# मध्य भारती

**मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका**
ISSN 0974-0066

(अंक-76, जनवरी-जून, 2019)

**संरक्षक**
प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी
कुलपति

**प्रधान सम्पादक**
प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

**सम्पादक**
प्रो. भवतोष इन्द्रगुरू
प्रो. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव
डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

**प्रबन्ध सम्पादक**
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

**डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय**
सागर (मध्यप्रदेश) - 470003
दूरभाष : (07582) 297133
ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

**सम्पादकीय परामर्श मण्डल**

- प्रो. पी.के. राय
- प्रो. ए.एन. शर्मा
- प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी
- प्रो. अशोक अहिरवार
- प्रो. दिवाकर राजपूत
- प्रो. डी.के. नेमा
- प्रो. नागेश दुबे
- डॉ. अनुपमा कौशिक
- डॉ. प्रकाश जोशी

# मध्य भारती

**मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका**

*अंक-76, जनवरी-जून 2019*
ISSN 0974-0066 (पूर्व-समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका)
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl.no.-15

*प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।*

**सम्पादकीय पत्र व्यवहार :**
मध्य भारती
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर - 470003 (म.प्र.)

*दूरभाष :* (07582) 297133
ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

*आवरण :* डॉ. छबिल कुमार मेहेर

**मुद्रण :**
अमन प्रकाशन
कटरा नमक मंडी, सागर (म.प्र.)

| सदस्यता शुल्क | | |
|---|---|---|
| | प्रति अंक | आजीवन |
| व्यक्तिगत | रु. 150/- | रु. 2000/- |
| संस्थागत | रु. 200/- | रु. 4000/- |

# अनुक्रमणिका


वैदिक ऋषियों द्वारा काल की इकाइयों की स्थापना 07
*रामप्रसाद*

राष्ट्रवाद की अवधारणा का वि-औपनिवेशीकरण 19
*विश्वनाथ मिश्र*

भारतीय प्रगतिशील वैचारिकता, भाषा, राष्ट्रीयता और इतिहास दृष्टि : राहुल सांकृत्यायन का संघर्ष 39
*हितेन्द्र पटेल*

प्रकृति व समाज का द्वैत और समाज विज्ञानों की मानव-केंद्रित वैचारिकी 57
*ईश्वर सिंह*

अभिनिवेश (मृत्यु का भय) : चिन्ता से प्रामाणिकता तक 69
*पंकज बासोतिया*

भारतीय संस्कृति में सैंधव सभ्यता का नैरन्तर्य 75
*सुरेन्द्र कुमार यादव*

वेदों में शल्य चिकित्सा 88
*संजय कुमार*

स्वतंत्रता आंदोलन को आदिवासी प्रतिसाद 101
*अरूण वाघेला*

ग़ज़ल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 112
*जुगुल किशोर चौधरी*

प्राचीन समाज का दर्पण : आमखो के शैलचित्र 120
*सुल्तान सलाहुद्दीन*

ब्रिटिशकालीन भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली का विकास और राष्ट्रवाद की प्रगति 131
*ब्रजेन्द्र कुमार*

In Search of a Happy Society 139
*Dilipkumar Mohanta*

Living Old Age Gracefully and Meeting the Ultimate End as Valedictory of Life 152
*Jawahar Lal Jain*

Relevance and Utility of Yoga Education in Present Scenario 161
*Ganesh Shankar*

Projecting Rising China's Softence Power : A Strategy for Global Influ 172
*Sanjay Srivastava and Govind Gaurav*

Issues and Perspectives in Environmental Governance 178
*Bhavana Trivedi*

The National Green Tribunal In Indian Perspective 189
*Vivek Dubey*

Legal Mechanism on Violence against Women : Causes and Remedies 195
*Mukesh Kumar Chaurasia*

The Economic Benefits of Tourism for Developing Countries : An Analysis — 201
*Sanjay Barolia*

Yoga : Global Value for Peace and Harmony — 207
*Sushim Dubey*

बीच बहस में अस्मिता और अन्यता — 211
*प्रशान्त शुक्ला*

बुंदेली लोकगीतों में बुन्देलखण्ड की संस्कृति के तत्त्व — 217
*पंकज सिंह*

# वैदिक ऋषियों द्वारा काल की इकाइयों की स्थापना

*रामप्रसाद*

मनुष्य की हर पीढ़ी का व्यक्ति अपने जीवन काल में अपने आस-पास एवं रहस्यमय आकाश को निहारता रहता है। आकाश को जानने व समझने की उत्सुकता कभी समाप्त नहीं हो सकती। इनके रहस्यों को समझने के लिए मनुष्य ने अनुभव से विचार ढूंढ़े। पृथ्वी पर दिशाओं का बोध व कल्पना से उनकी स्थापना, सूर्य व चन्द्रमा में अन्तर व उनकी दूरी का आभास होना, तारा मण्डल में 27 नक्षत्रों की कल्पना, ग्रहण पर विचार करना आदि कल्पना की ही तो उड़ाने हैं, प्रकृति को छूने के ये अनवरत व अथक प्रयास हैं। इस भारतीय भू-भाग में वैदिक ऋषियों ने मूल प्रकृति के संबंध में सोचा कि -

*ऋतं च सत्यं चाभीद्धात तपसोऽध्य जायत।*
*ततो रात्र्य जायत ततः समुद्रोऽर्णव।। (5)*

एक अव्यक्त, अज्ञात अन्तराल के पश्चात्, अक्रमित, अव्यक्त उद्वेलित प्रकृति अज्ञात कारणों से क्रमितता की ओर अग्रसर होने लगी। इस अज्ञात कारक को एकार्णव अथवा जलान्धकार के बाद की क्रिया समझा गया। अंधकार में यह जल सैलाव अव्यक्त गति से उमड़ता हुआ कल्पित माना गया। प्राचीन भारत की कुछ महत्वपूर्ण कथाओं में एक कथा जलप्लावन की भी है। यह कवि समुद्र मंथन से जुड़ी हुई है। लगता है यह प्लावन एकाणव ही है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 129 वें ऋचा में मूल उद्वेलन की सोच का संकेत मिलता है -

*नासदासीन्नो सदासीत्त दानी।*
*नासी द्रजो नो व्योमा परोयत।।*
*(नासदीय सूक्त - 5)*

प्रारम्भिक उद्वेलन में जलान्धकार के अतिरिक्त कुछ भी न था। वैदिक काल के ऋषियों की सोच थी कि इसी जलान्धकार के सैलाव से जल में झाग बनता गया व इस झाग के परमाणुओं के अव्यक्त सन्नटीकरण से अणु बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी। एकार्णव की कथा हिन्दू, इसाई व मुस्लिम संस्कृतियों में क्रमशः मनु की नाव, नोह की नाव (Ark of Noah) व खुदा का जल में आसन (1) होना शीर्षकों में है।

इस जलान्धकार की अभिव्यक्ति के लिए ऋग्वेद के दसवें मण्डल में ही एक अन्य वर्णन है -

*तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रे, अप्रकेतम् सलिलं सर्वमा इदम्।*
*तुच्छये नाभ्वपिहितं यदा सीत्, तमस स्तन्महिना जायतैकम्।। (5)*

प्रकृति में पूर्ण विखण्डता होने की वैदिक ऋषियों की सोच को कुछ यूनानियों ने अपीरन् (Apeiron) नाम से संबोधित किया, यूनानियों की अपीरन् की सोच भारतीय सोच पर आधारित नहीं थी। कुछ यूनानियों

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 7-18*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

की इस सोच को वहीं के कुछ चिन्तकों ने नहीं स्वीकारा। जहाँ अरस्तू ने विचार किया कि अपीरन् के अनेकों रूप हैं वहीं पाइथागेरस व प्लैटो ने यह विचार नहीं स्वीकारा। इस संदर्भ में बाद में भौतिक वादियों ने निर्विवाद अनन्त (Absohite uifinite) व निर्विवाद सातत्य (Absolute continuous) की कल्पना की।

मनुष्य आज जिस ब्रह्माण्ड की कल्पना करता है, आयन्स्टीन ने उसके बारे में कहा - 'ईश्वर पासे का खेल नहीं खेलता' (God does not play dice)। (3) अतः ब्रह्माण्ड को एक क्रमिक रूप में माना गया। ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्ड में प्राकृतिक तारतम्यता मानी गयी। सूक्ष्मतम् कण की कल्पना से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो बदलाव समझ में आते हैं उन्हें समझने के निमित्त मनुष्य ने समय को आधार माना। समय का विचार भी कल्पनातीत सूक्ष्म से कल्पनातीत अधिक माना गया। (4)

हिन्दी भाषा शब्द विन्यास में तीन अक्षरों से बना शब्द, जिसमें प्रथम अक्षर ऊष्म वर्ग का, द्वितीय अक्षर प-वर्ग का व्यंजन व तीसरा अक्षर अन्तःस्थ (अर्धस्वर) 'समय' है। यह शब्द अति गहन व व्यापक है। इस शब्द के अक्षरों पर कोई मात्रा या अर्द्धमात्रा नहीं लगी है क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति को न तो बढ़ा सकते हैं और न ही घटा सकते हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य पशु-पक्षियों को भी समय का ज्ञान है। मनुष्य इसे छूना चाहता है पर इसकी स्वच्छन्दता की पूरी कल्पना नहीं कर पाता। बस केवल खुद के स्थापित नियमों, व्यवस्थाओं के अनुसार ही इसका अनुमान कर सकता है। यह अनुमान कितना सूक्ष्म एवं सार्वभौमिक है, यह भी मनुष्य की कल्पना क्षेत्र से बाहर है। पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के क्रमिक रूप से चलित संस्कृतियों के निवासियों ने अनवरत रूप से समय को इकाइयों में स्थापित करने की चेष्टा की व इनमें छोटे-बड़े का विचार भी स्थापित किया। कुछ चिंतकों ने न्यूनतम व अधिकतम इकाईयों की भी कल्पना की।

वैदिक धर्मावलम्बियों ने समय के आभास को जानकर खुद को भी समय के प्रभाव से ग्रसित होना समझा व समझते हैं। सुधीजन चाहते हैं कि वे काल (समय) की परिधि से मुक्त हो जाँय पर क्या काल की परिधि है? वे अपने इष्टदेव से प्रार्थना रत रहते हैं कि उन्हें काल-मुक्ति मिले, मोक्ष मिले, इस सोच पर भारतीय दर्शन शास्त्रियों ने षड-दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा व उत्तर मीमांसा) में यही तो विचार किया कि जीव (मनुष्य) को मुक्ति मिल जाय। ऋषि कणाद ने तो यही तथ्य स्थापित करने का यत्न किया कि समय प्रधान है। वे इसी परिपाटी से आप्लावित रहे। समय सार्वभौमिक, सर्वत्र एवं अनवरत है। अतः काल-मुक्ति एक जाल है। अपने जीवन काल में चिंतक दीर्घायु व कालमुक्ति चाहता हैं। वह अपने इष्टदेव से प्रार्थना करता है कि उसे जीवन में 19 गुण भी मिल जाय। इनमें एक गुण भ्रांति का भी है। ये विचार ठीक से समझ में न आने पर कुछ संदेहात्मक अथवा उभयतोपाश (Para- Paradoxical) प्रतीत होते हैं। मनुष्य एवं समस्त जीव-जन्तु, समस्त भौतिक विचार, पृथ्वी, सौर मण्डल, तारा-कणिकाएँ, मन्वन्तर आदि समय से आवद्ध हैं। संक्षेप में, वर्तमान में हो रहे शोधो से आभास मिलता है कि समय व ब्रह्माण्ड आपस में आवद्ध (infortnined) हैं, इन द्वय (twin) में से यदि ब्रह्माण्ड को अलग कर दें तो समय को एकक (Singleton) के रूप में कैसे समझा जाय? 'जिस विचार को नहीं समझ सकते उसे कैसे समझा जाय?' की उक्ति चरितार्थ होती है। समय की व्यापकता के आभास के लिए ब्रह्माण्ड को मनुष्य के ज्ञान-साधनों की सीमा में ही तो सोच सकते हैं, पर ये सब ज्ञान साधन समय की सीमा में ही तो हैं। समय के भीतर रह कर समय पर विचार कैसे करें? समय पर विचार करना तो सबकुछ देखने वाले आँख को आँख से देखने जैसा है।

वैदिक क्रियाओं में निष्ठा रखने वाला पुरूष जब कभी हवन, यज्ञ क्रियाओं से प्रकृति का आह्वान करता है तो सर्वप्रथम वह एक आसन पर बैठकर संकल्प करता है। इसका प्रारम्भिक व आंशिक भाग कुछ ग्रन्थों में इस प्रकार है - ॐ नमः परमात्मने, श्री पुराण पुरूषोत्तमस्य श्री विष्णो राज्ञया पर्वतमान साध्य श्री

ब्रह्मणो द्वितीय परार्द्धे श्री स्वेत वाराह कल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टा विंशति तमे कलि युगे.... इस भाग में जिन ध्वनि व शब्दों को गहराई से समझने की आवश्यकता है, वे हैं - ॐ, द्वितीय परार्द्ध, स्वेत वाराह, कल्प, वैवस्वत, मन्वन्तर, अष्टा विंशति, कलि युग आदि। इन शब्दों की विस्तार से व्याख्या समझने के लिए वैदिक ऋषियों द्वारा स्थापित व्याख्याओं के अतिरिक्त वर्तमान में हो रहे वैज्ञानिक व्याख्याओं, अभिकल्पनाओं व आभासी प्रमाणों को भी गहन ढंग से समझने की आवश्यकता है।

आइये सर्वप्रथम, प्रथम विचार ॐ की सोच, शक्ति व गहराई के आभास पर विचार करें। कोई भी अग्निहोत्र सर्वप्रथम एक प्राण काल (सांस छोड़ने की एक पूरी क्रिया) में भ्रमर जैसी ध्वनि के साथ ॐ से आस-पास के वायुमण्डल में गुंजन करता है। ऐसा करने से आस-पास के लोगों का ध्यान केन्द्रित होता है। इस कारण यह एक योगक क्रिया मानी जाती है। इसके क्रमिक अभ्यास से योगी ध्यान व धारण से समाधि में लीन हो जा सकता है। बौद्ध मतावलम्बी भी प्रार्थना से पूर्व ॐ की ध्वनि करते हैं। ॐ का विचार ऊ से भिन्न है। वैदिक धर्मावलम्बी ॐ को ध्वनि रूप से मानते हैं और इसे ही मूल उत्पत्ति का कारक मानते हैं। अतः अपने चिन्तन को शब्दों में व्यक्त करते वक्त सर्वप्रथम ॐ लिखते हैं। (1) मुझे लगता है कि इस ध्वनि संकेत को 'दृष्टि' रूप में इसलिए व्यक्त करते हैं कि हर उत्तरोत्तर पीढ़ियाँ इस विचार को समझते रहें, क्योंकि श्रुति संहिता में ही रहने से इसकी ध्वनि का रूप बदल सकता है। यहाँ तक कि अक्षर भी समय के बहाव के साथ 'कुरूप' होने लगते हैं।

पृथ्वी की सतह के हर स्थान पर हर क्षण सूक्ष्म एवं विस्तारित ध्वनि तरंगों का सम्प्रेषण होता रहता है। ये ध्वनि तरंगें स्थानीय, क्षेत्रीय, मनुष्य कृत साधनों से उत्पन्न, प्रकृति में अज्ञात संगठनों/संघट्टनों से उत्पन्न, बादलों की टकराहट से उत्पन्न, समुद्री लहरों से उत्पन्न, वायु प्रवाहन से उत्पन्न, भू-स्खलन से उत्पन्न और पृथ्वी के गर्भ में चट्टानों के सरकने से उत्पन्न आदि से होती रहती हैं। मुझे लगता है ये समस्त ध्वनियाँ एवं इसकी पूरी ध्वनियाँ भी ॐ में समाहित मानी गयीं हैं। अनुभव से आभास होता है कि तीव्र ध्वनि डरावनी होती है और इसी कारण ध्वनि को शक्ति का एक अंश समझा गया। इसलिए ध्वनि का आह्वान आवश्यक है।

सन् 1965 में दो अमेरिकी ध्वनि वैज्ञानिक अर्नो पेन्जियाज़ (Arno Penzias) एवं रोवर्ट विल्सन् (Robert wilson) एक बहुत ही संवेदनशील माइक्रोवेभ् संवेदक (Microwave defector) की सहायता से ध्वनि तरंगों का अध्ययन व शोध कर रहे थे। अध्ययन करते समय हर बार उन्हें लगता था कि प्राप्त तरंगें उनको अपेक्षाकृत बहुत अधिक मिल रही हैं। अपने समस्त भ्रमों के निवारण करने पर भी प्राप्त तरंगों की बारम्बारता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये तरंगें हर स्थान पर हर दिशा से एक समान थीं। उन्होंने सोचा कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है एवं सूर्य की परिक्रमा दीर्घवृत्तीय मार्ग के अनुसार करती है। पृथ्वी के इतने बड़े क्षेत्र में चलने पर भी ये तरंगे अविरल हैं। अतः उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ये तरंगें सौर मण्डल की तो हैं ही, साथ ही सौर मण्डल के बाहर तारामण्डल से भी आ रही हैं।(3)

लगभग इसी समय प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के दो भौतिक शास्त्री बॉव डिक (Bob Dicke) एवं ज़िम पीवल्स (Jim Peebles) भी माइक्रोवेव संवेदक विषय पर शोध कर रहे थे। इनका शोध विषय जॉर्ज गैमो (George Gamon) की इस अवधारणा पर था कि कणीय ब्रह्माण्ड (Early Universe) कल्पानातीत सघन व गरम रहा होगा। इन दोनों का सोचना था कि यदि गैमो की अवधारणा सही है तब कणीय विस्फोटन के पश्चात् चलित प्रकाश का प्रभाव पृथ्वी पर अब भी अवश्य होगी। आशय यह कि वे प्रकाश किरणें पृथ्वी से दूर गमन करती होंगी, जब डिक् व पीवल्स् के शोध का पता पिञ्जियाज़ व विल्सन् को ज्ञात हुआ तो उन्होंने महसूस किया कि वे इस शोध कार्य को पहले ही पूरा करके सिद्ध भी कर चुके हैं। इस शोध के लिए पिञ्जियाज़ व विल्सन को संयुक्त रूप से 1978 का भौतिकी का नोवले पुरस्कार प्राप्त हुआ।(3)

ब्रह्माण्ड के फैलने के प्रारम्भिक काल में एक तरफ कल्पनातीत गुरूत्वाकर्षण का बल जो फैलाव को प्रभावित करे और दूसरी तरफ फैलावी शक्तियां जो गुरूत्वाकर्षण की शक्तियों को कुण्ठित करे, इन दोनों शक्तियों के टकराव से जो कल्पानातीत ध्वनि तरंगें चलीं वे वर्तमान में भी होंगी। इन्हें विध्वंसक ध्वनि तरंगें (Premordial sound waves) नाम दिया गया है।(7)

हाल ही में अमेरिका में भूकम्प तकनीकी अध्ययन में यह जानने का यत्न किया गया कि ध्वनि तरंगें पृथ्वी की सतह से इसके गर्भ की ओर किस तरह बढ़ती हैं। इस प्रयोग को करते समय भू-वैज्ञानिकों को अनायास ही ज्ञात हुआ कि महाद्वीपीय बृहदकार पत्थरों की परतों (Continental tectonic plats) के नीचे, लगभग 145 से 240 कि.मी. गहरे में विशाल उल्टे पहाड़ोंनुमा हीरे की चट्टाने हैं। (11)

गैमो की अवधारणा के आधार पर ब्रह्माण्डीय कण-विस्फोटन की कल्पना व फेलाव को मानकर वैज्ञानिक कुछ ब्रह्माण्डीय रहस्यों को आंशिक रूप से समझ सके। इन रहस्यों में समय के रहस्य को समझना अति कठिन है। इस पर चिंतन करने के लिए ब्रह्माण्ड को जितना हो सके, समझने की आवश्यकता है।

लगभग सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ब्रह्माण्ड के अध्ययन कर रहे चक्षुओं ने बहुत गहरायी से यह सोचने का प्रयत्न किया कि ब्रह्माण्ड स्थिर है अथवा गतिमान। इसके प्रारम्भ व अन्त की कल्पना की जा सकती है कि नहीं। चिन्तन कर रहे जिज्ञासुओं में से एक जिज्ञासु इडविन हबल (Edwin Hubble) ने सन् 1929 में एक अवधारणा सुझायी कि ऐसा लगता है कि आकाश में दिखने वाली तारा शृंखलाएँ 'हम' से हर तरफ लगातार दूर चली जा रही हैं। इससे अनुमान लगता है कि ब्रह्माण्ड फैल रहा है। इसे समझाने के लिए उन्होंने एक गुब्बारे का उदाहरण दिया। एक गुब्बारा लें व उसमें थोड़ी हवा भर दें। इसके पश्चात् इस पर कई बिन्दु-निशान लगा दें व तब पूरी हवा भरें। हवा भरते वक्त इन बिन्दुओं की आपसी दूरी, गुब्बारे के फूलने के कारण दूर-दूर होती जायेंगी। तारा शृंखलाएं भी आपस में इसी तरह दूर हो रहीं हैं। यदि इस अभिकल्पना को मान लें तब इस पर आधारित एक सहकल्पना स्थापित होती है कि ब्रह्माण्ड कभी संकुचित बिन्दु रूप में था, इस ब्रह्माण्डीय संकुचन बिन्दु की कल्पना वैज्ञानिकों ने लगभग 20 अरब वर्षों (20 thousand million years) से भी पहले की मानी। इस सोच से यह भी आभास मिलता है कि मूल में यह ब्रह्माण्डीय बिन्दु सघनातित (infinitesimally small and infinitely dense) था। उस अवस्था में समय का अस्तित्व था कि नहीं?(3) इस प्रश्न का सही उत्तर देना कठिन है।

बीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह लगभग निश्चित हो गया कि ब्रह्माण्ड एक स्थिति में ब्रह्माण्डीय संकुचन बिन्दु स्वरूप सघनातीत था व समय का विचार उस अवस्था में अज्ञात सा था। वैज्ञानिकों का एक समुदाय 'समय का विचार न होने' को नहीं मानता। ब्रह्माण्डीय बिन्दु विघटन (Big Bang) के बाद ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्ड अज्ञात अप्रतिम गति व ढंग से फैल रहा है, कुछ खगोल शास्त्री यह सोचते हैं कि ब्रह्माण्ड का फिर ब्रह्माण्डीय बिन्दु संकुचन (Big stop) नहीं होगा। पर कुछ सोचते हैं इसका बिन्दु परक संकुचन हो जायेगा। यह भी सोच है कि ब्रह्माण्डीय बिन्दु विघटन व बिन्दु संकुचन का यह क्रम अनवरत् चलता रहेगा (6) इस संदर्भ में वैदिक ऋषियों ने भी चिन्तन किया कि ब्रह्माण्ड स्थिर नहीं है, यह लगातार फैलता है व संकुचित होता है। संबंधित वेद मंत्र यह है।

*ईशावास्य मिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।।*

*(यजुर्वेद XL,1) (5)*

इस कल्पना में यदि ब्रह्माण्ड को एक द्वि-विमीय छाया के रूप में माने तब उक्त पुनरावृत्ति की कल्पना कुछ सीमा तक चित्रित की जा सकती है जो कुछ इस प्रकार है -

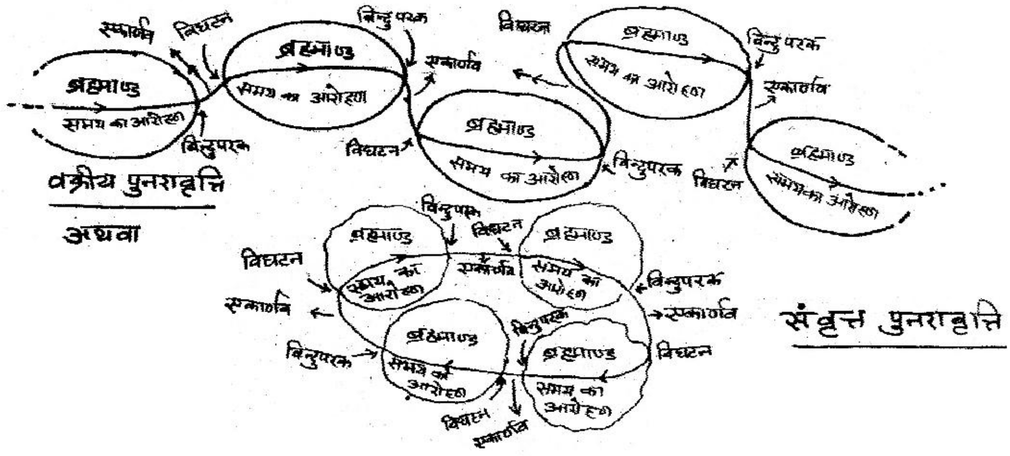


चित्र नं. 1

सामान्य व्यक्ति न तो गहन अध्ययन करता है व न ही गहन चिंतन। वह बस केवल आस्थावना होता है व प्रकृति के रहस्यों को अपनी सोच से जानना चाहता है। ऐसी स्थिति में वह सौर मण्डल की भाषा, तारा अवलियों की भाषा, ब्रह्माण्ड की भाषा व एकार्णव जैसे विचारों की भाषाओं को कैसे सकझेगा? प्रकृति द्रष्टा ही इस प्रकार के विचारों को सामान्य व्यक्ति तक पहुँचा सकता है, पर तब चिंतकों का माध्यम तो अवश्य ही चाहिए। मुझे लगता है कि ब्रह्माण्ड के समस्त उत्पत्ति कारकों को एकत्र कर एक अति संक्षिप्त व मधुर नाम दिया गया - ब्रह्म अथवा ब्रह्मा, इसी भांति समस्त चर-अचर उत्पत्ति को विष्णु तथा समस्त चर-अचर उत्पत्ति में हर क्षण परिवर्तन को रूद्र नाम दिये गये। मनुष्य न तो सृजन से सृष्टि (Creation) कर सकता है, न सृष्टि को यथा रूप में रख सकता है। इन्हें केवल प्राकृतिक शक्तियाँ ही संचालित कर सकती हैं। इसीलिए, मैं समझता हूँ कि उक्त बृहत्रयी में ईश्वर का आरोहण है। सामान्य मनुष्य इनमें ईश्वर का रूप समझ कर प्रकृति को समझने का यत्न कर सकता है।

सम्भव है कि ब्रह्माण्डीय -बिन्दु - विघटन (Big Bang), ब्रह्माण्ड का त्वरित फैलाव व ब्रह्माण्डीय - संकुचन (Big Stop) की प्रक्रिया कल्पित कल्प (दिक्-काल की अप्रतिम इकाई) की कल्पना वर्तमान ब्रह्माण्ड-वैज्ञानिकों द्वारा कल्पित कल्पना के कुछ तुल्य लगती है। कल्प के प्रारम्भ व समाप्ति की कल्पना भी उन्हें थी। यही नहीं, कल्पान्तर अर्थात् क्रमिक क्रमों के बीच के एकार्णव या जलान्धकार अथवा ब्रह्माण्ड का पूर्ण विखण्डित काल की भी कल्पना है। इन द्रष्टाओं ने यह भी माना कि कल्प का काल-मान उत्पत्ति कारक (The Creator) के एक ब्रह्म - दिन (!) के रूप में है। वर्तमान कल्प का नाम कुछ ग्रन्थों में स्वेतवाराह माना गया है उत्पत्ति कारक की ब्रह्म-रात्रि - काल (!) भी एक कल्प का माना गया। इस तरह ब्रह्म - अहोरात्रि/ अहोरात्र का मान दो कल्प हुआ। इस अहोरात्र मान से उत्पत्ति कारक का काल सौ ब्रह्म - वर्ष माना गया। ब्रह्म वर्ष को 'पर' भी कहा गया है। वर्तमान काल में उत्पत्ति कारक अपने फैलाव का अर्द्धभाग या एक परार्द्ध को पूर्ण करके दूसरे अर्द्धभाग या दूसरे परार्द्ध में है।(9)* इस गणना को विस्तार से समझने के लिए सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार के श्लोक 15 से 24 तक द्रष्टव्य है।

उन्हीं ऋषियों ने एक कल्प में अव्यक्त गणना या कल्पना से चौदह मन्वन्तर व इनमें प्रत्येक के अलग-अलग मनु माने, मनु को, मन्वन्तर का स्वामी (व्यवस्थापक) माना गया। अतः मनु व मन्वन्तर में, हर कल्प के भीतर, ऐकिक तादात्म्य है। मन्वन्तर के विचार से यह समझ में आता है कि इसमें भौतिक परिवेश के साथ चर-अचर के विचार भी स्थापित हुये। वर्तमान कल्प के मन्वन्तरों के नाम इस प्रकार हैं- स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, (वर्तमान में चल रहा मन्वन्तर), सार्वणि, दक्ष सार्वणि व इन्द्र सार्वणि। इन मन्वन्तरों के नाम, पुराणों में, विशेषकर विष्णु पुराण में मिल जाते हैं। वर्तमान में सातवें मन्वन्तर वैवस्वत के सत्ताईस चतुर्युग समाप्त हो चुके हैं व इस समय अट्ठाइसवाँ चतुर्युग चल रहा है। (9) इन क्रमानुसार मन्वन्तरों के हर जोड़े के बीच में एकार्णव की कल्पना है, चित्र- 2।

एक कल्प के मन्वन्तरों की पुनरावृत्ति किसी भी अन्य कल्प में नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि प्रकृति में चर-अचर की पुनरावृत्ति नहीं होती। प्रकृति के हर क्षण बदलने की प्रक्रिया को श्रेष्ठ नाम रूद्र से जाना जाता है। गणित विषय में प्रकृति के हर क्षण बदलने की प्रक्रिया को अवकलन (Differantial) नाम दिया गया है। बदलाव का विचार सार्वभौमिक है। यदि बदलाव न हुआ तो मन्वन्तर तो प्रभावित होंगे ही, कल्प का विचार भी धूमिल होगा; क्योंकि कल्प का फैलाव रूक नहीं सकता, संकुचन भी रूक नहीं सकता। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार स्वारोचिष मन्वन्तर की समाप्ति पर जब 'चर-अचर नियामक' शांत मुद्रा थे, उन्हीं के बाहरी आवृत्त से दो अपरिमेय शक्तियाँ उभरी जो क्रमितता एवं 'क्रमितता के मूल कारक' को समाप्त करने पर उतारू थे; इन एकार्णवीय शक्तियों को 'चर-अचर नियामक की शक्ति ने पुनः व अन्ततः ब्रह्माण्ड में क्रमितता बढ़ने लगी।

काल की निम्न इकाईयों की स्थापना व उनकी विवेचना श्रीमद् भागवद्गीता, विवेचक जय दयाल गोयंदका (9) से किया गया है। निम्न पूरे उद्धरण को लेने के लिए यह लेखक जयदयाल गोयन्दका एवं गीता प्रेस, गोरखपुर का कृतज्ञ है।

विष्णु पुराण के सूर्य सिद्धान्त के मध्यमाधिकार, श्लोक 15 से 24 तक में कल्प, मन्वन्तर, मन्वन्तर की संध्या, चतुर्यग, युग आदि का वर्णन है। साथ ही श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध के पहले पांचवें व तेरहवें अध्याय में इनका विस्तार से वर्णन है। पुराणों में इनके नाम भेद मिलते हैं।

श्रीमद्भागवद् गीता के दसवें अध्याय में भी एक श्लोक यही अभिव्यक्ति देता है -

*महर्षय सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा*
*मभ्दावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजा।।*

*श्रीमद्भत्गीता अध्याय 10, श्लोक 6*

इस श्लोक के मनवः पद में ब्रह्म-अहोरात्र, मनु-मन्वन्तर, चतुर्युग, युग आदि काल-इकाईयाँ हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऋग्वेद में 12000X36=432000 शब्द हैं। इस संबंध में निम्न श्लोक है -

*द्वादश ब्रहतीसहस्त्राणि एतावत्यो हऽर्चो प्रजापति सृष्टाः।।*

*(शतपथ X 4,2,23) (5)*

सम्भव है कि कलियुग के मानव वर्षों का निर्धारण इसी आधार पर हुआ होगा। सौर मान के आधार पर निम्न युगों के वर्षों की कल्पना है -

| | | |
|---|---|---|
| कलि युग का काल | - | $4,32 X 10^3$ वर्ष |
| द्वापर युग का काल | - | $8,64 X 10^3$ वर्ष |
| त्रेता युग का काल | - | $1296 X 10^3$ वर्ष |
| सत्य युग का काल | - | $1728 X 10^3$ वर्ष |
| चारों युगों का काल | - | $432 X 10^4$ वर्ष |

इन चारों युगों को मिलाकर एक चतुर्युग अथवा महायुग की कल्पना है इस तरह के 71 चतुर्युगों को मिलाने पर एक मनवन्तर कहा गया हे। (7) चतुर्युग किस विचार के आधार पर लिए गये हैं यह मुझे ज्ञात नहीं हो पाया है। इस तरह एक मन्वन्तर का काल $30672X10^4$ वर्ष का हुआ। कल्प की संधि का काल $1728X10^3$ वर्ष माना गया। अतः कल्प की संधि सहित एक मन्वन्तर $308448X10^3$ वर्ष का हुआ। कल्प की संधि सहित 14 मन्वन्तरों का काल $4318272X10^3$ वर्ष हुआ। (एक कल्प में 14 ही मन्वन्तर क्यों हैं, नहीं ज्ञात हुआ।) एक कल्प का काल = कल्प की संधि +

14 मन्वतरों की संध्या काल +

14 मन्वतरों का काल

$=1728X10^3+24192X10^3+429408X10^4$

$=432X10^7$ वर्ष

इन चारों युगों को मिलाकर एक चतुर्युग अथवा महायुग की कल्पना है इस तरह के 71 चतुर्युगों को मिलाने पर एक मन्वन्तर कहा गया है। (71 चतुर्यग किस विचार के आधार पर लिए गये हैं यह ज्ञात नहीं हो पाया।) इस तरह एक मन्वन्तर का काल $30672X10^4$ वर्ष का हुआ। कल्प की संधि का काल $1728X10^3$ वर्ष माना गया। अतः कल्प की संधि सहित एक मन्वतन्तर $308448X10^3$ वर्ष का हुआ। कल्प की संधि सहित 14 मन्वन्तरों का काल $4318272X10^3$ वर्ष हुआ। (एक कल्प में 14 ही मन्वन्तर क्यों है, नहीं ज्ञात हुआ।) एक कल्प का काल = कल्प की संधि +

$=1728X10^3 + 24192X10^3+429408X10^4$

$=432X10^7$ वर्ष

360 मानव वर्षों को एक देव वर्ष मान कर भी चतुर्युगों, मन्वन्तरों व कल्पों के काल का भी निर्धारण किया गया है।(9)

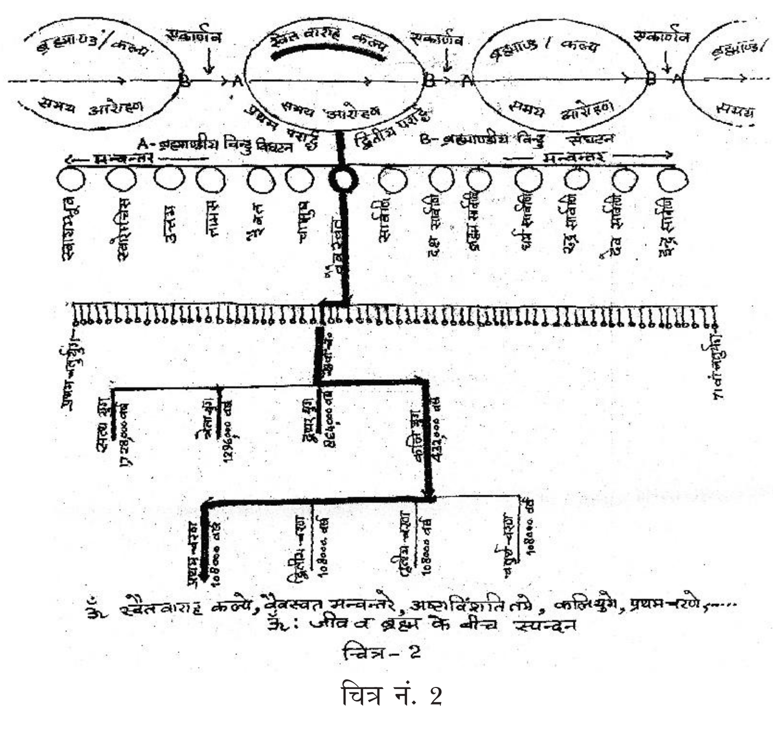


चित्र नं. 2

निम्न काल गणना की इकाईयों का विवरण अलूबरूनी कृत इंडिका (1) से लिया गया है। इसे उद्धृत करने के लिए यह लेखक अलूबरूनी (अंग्रेजी भाषा अनुवादक इडवार्ड सी सचाउ) एवं पुस्तक प्रकाशक का कृतज्ञ है।

कल्प को काल-इकाई मानकर अलग-अलग पुराणों में काल गणना में भेद है। विष्णु पुराण के अनुसार कल्प को काल की इकाई मानकर काल गणना निम्न प्रकार से है - (1)

| | | |
|---|---|---|
| (i) | उत्पत्ति कारक का काल | $72X10^3$ कल्प |
| (ii) | केशव का काल | $2X36^2X10^4$ कल्प |
| (iii) | महादेव का काल | $2X36^3X10^5$ कल्प |
| (iv) | ईश्वर का काल | $2X36^4X10^6$ कल्प |
| (v) | सदाशिव का काल | $2X36^5X10^7$ कल्प |
| (vi) | नारायण का काल | $15552X10^7$ कल्प (1) |
| (vii) | रूद्र का काल | $5374771X10^{12}$ कल्प |
| (viii) | शक्ति का काल | $1,078,244,997,852,378,1\ 12X10^{28}$ कल्प |

कल्प आधारित उक्त काल गणनाओं में अन्तर मिलता है। काल गणना की अन्य बड़ी इकाईयाँ अन्य पुराणों में हैं, परन्तु गणना के लिए एक समान आधार नहीं मिल पाये, काल की गणना की जो भी इकाईयाँ उपलब्ध हुयीं, उनमें तारतम्य स्पापित करने में कठिनायी है।

उक्त वर्णित काल गणनाओं से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय उपमहाद्वीप में काल गणना का आधार 12 रहा है, वैदिक परम्पराओं में हर 12 वर्षों के अन्तराल के बाद एक वृहद जन समुदाय के एकत्र होने का विचार है, इस एकत्रीकरण को कुम्भ नाम दिया गया है। इस परम्परा का निर्वहन हरद्वार/हरिद्वार, प्रयाग, उज्जयनी एवं नासिक नामक स्थानों में होता है। यह एक सामाजिक परम्परा का रूप है। इस मिलन के सामाजिक, पारिवारिक व धार्मिक कारण हैं। कुम्भ पर्व उक्त किन्ही भी दो स्थानों में एक साथ मनाये नहीं जाते। सम्भव है कि एक लम्बे अन्तराल के बाद कुम्भ-वर्षो का योग कलि युग के वर्षो के बराबर हो जायेगा।

काल गणना के दूसरे आयाम के अन्तर्गत काल की सूक्ष्म इकाईयों की स्थापना व उनके आधार पर क्रमानुसार बड़ी इकाईयों का कुछ उल्लेख निम्न ढंग से है। ऋषि श्रुधव ने काल की सबसे छोटी इकाई को अणु नाम दिया तथा आठ अणुओं को मिलाकर बने काल का नाम त्रुटि रखा। (कुछ विचारकों ने समय की बहुत बड़ी इकाई का नाम भी त्रुटि रखा) त्रुटि का समय नाप अंगूठा व मध्यमा ऊंगली की सहायता से चुटकी बजाने की ध्वनि को पूरा सुनने का काल है। इस तरह की आठ त्रुटियों को मिलाकर बने समय नाप को लव कहा है। आठ लवों के समय नाप को निमेश कहा गया है। निमेश से तात्पर्य है कि वह समय नाप जो सामान्य रूप से क्रमशः आंख की दो बार पलक झपकाने के बीच में हो। इसी क्रम में आठ निमेश के योग को काष्ट कहा गया है। (1) वायु पुराण में समय के नाप की छोटी इकाईयाँ उक्त इकाईयों से भिन्न हैं। समय की सबसे छोटी इकाई को यहाँ त्रुटि कहा गया है। यह त्रुटि इकाई उक्त त्रुटि समय नाप से भिन्न है। यहाँ अणु काल खण्ड का स्थापन नहीं है। वायु पुराण में दो त्रुटियों के काल को लव कहा, दो लव को एक निमेश (उक्त निमेश से भिन्न), पन्द्रह निमेश को एक काठ कहा है। कहीं-कहीं तीस निमेश को भी एक काठ कहा गया है। कुछ चिंतक एक क्षण को पन्द्रह हिस्सों में रखकर एक हिस्से को समय की सबसे छोटी इकाई मानते हैं। ब्रह्मगुप्त इस इकाई को चषक कहते हैं। इस प्रकार अलग-अलग समय व क्षेत्रों में काल की न्यूनतम इकाई की स्थापना की गयी।

समय गणना के एक अन्य आयाम के अन्तर्गत समय की छोटी इकाई की स्थापना व तद्नुसार बड़ी इकाईयों की दैनिक व्यवहार के लिए स्थापना का उल्लेख भी है। सामान्य स्वस्थ व्यक्ति सामान्य ढंग से जब सांस लेता है तो सांस लेने के पूरे समय को अपान कहा जाता है। इसी तरह सांस को पूरे रूप से छोड़ने को प्राण कहा जाता है। ये अपान व प्राण समय नाप की दृष्टि से कभी कम, कभी एक दूसरे से अधिक व कभी बराबर भी हो सकते हैं। सामान्य समय ज्ञान के लिए 360 अपान या प्राण को एक महूर्त कहा गया है। इस तरह महूर्त का काल कभी भी स्थिर नहीं माना गया। तब भी काल गणकों ने 21600 प्राण का एक अहोरात्र (दिन-रात) माना। कभी-कभी 360 प्राण को एक घटी या नाड़ी मानकर भी अहोरात्र को 60 घटी में स्थापित किया।

दिन मान चार प्रकार से माने गये हैं। सौर मण्डल आधारित सौर मान, सूर्य आधारित सावन मान, चन्द्रमा आधारित चान्द्रमान व नक्षत्र आधारित नक्षत्र मान। पृथ्वी द्वारा सूर्य के एक पूरे चक्कर लगाने के काल को वर्ष कहा गया है। पूरे वर्ष भर प्रति सूर्योदय से प्रति सूर्यास्त तक हर दिन मान अलग-अलग हैं। प्रति सूर्योदय से सूर्यास्त के काल को दिन कहा जाता है। दिन मान स्थायी न होने से काल निर्धारण ठीक नहीं हो पाता। अतः गणना के लिए एक निश्चित अवधि का सामान्य दिन (civil day) मानकर एक वर्ष के दिनों का निर्धारण किया गया है। इस भांति एक सौर वर्ष में $365\frac{827}{3200}$ दिन माने गये। सौर मान के आधार पर सात दिनों (civil day) का सप्ताह, विवाह का दिन, उपवास का दिन, सूतक, प्रायश्चित का दिन आदि निश्चित किये जाते हैं। ऋतुएं भी सौर मान आधारित हैं। चंद्रमा आधारित दिन मान को तिथि कहा जाता है। इस तरह चांद्र दिन, चान्द्र माह व चान्द्र वर्ष निर्धारित किये गये। चांद्र माह के दो भाग शुक्ल पक्ष व कृष्ण पक्ष हैं। नक्षत्र मान का आधार चन्द्रमा के 27 नक्षत्रों की एक पूरी परिक्रमा पर है। यह समय $27\frac{11259}{35002}$ दिन का है।(!) विष्णु धर्म के अनुसार जब पृथ्वी जितने समय में किसी तारे (तारा नक्षत्र) को आधार मानकर (सूर्य को छोड़कर) सूर्य का एक चक्कर लगाती है। उस समय को एक तारा वर्ष कहा (Sidereal year) है। इस आधार पर एक तारा माह 27 दिनों का माना गया।(1)

दिन मानों के स्थापन तथा समय के महत्व को समझने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय समय-मानो को निश्चित करने का विचार होने लगा। अन्ततः पृथ्वी के दो ध्रुवीय बिन्दुओं को अलग-अलग ऐच्छिक काल्पनिक वक्रों को चुनकर उन्हें मिलाने का सुचारू रूप से यत्न किया गया। इनका नाम देशान्तर (Longitude) रखा गया। तथा इसी तरह भू मध्य रेखा को आधार मानकर अक्षांशों (Latitudes) की भी स्थापना की गयी। अक्षांशों व देशान्तरों को स्थापित करने से पृथ्वी की पूरी सतह का हर बिन्दु पहचान में आ गया। देशान्तरों की स्थापना के पश्चात् सर्वप्रथम ब्रिटेन ने सन् 1880 में अपने देश के समय निर्धारण के लिए ब्रिटेन के ऊपर गुजरने वाले देशान्तर को चुना जो ग्रीन विच - आक्सफोर्ड के क्राइस्ट चर्च से गुजरे। इसका नाम उन्होंने (Green wich Mean Time - GMT) ग्रीनंविच मीन टाइम रखा। उस समय अन्य देशों ने इसका विरोध किया था। अन्ततः सन् 1884 में वाशिंग्टन डी.सी. में 'अन्तर्राष्ट्रीय समय निर्धारण सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन में एकत्रित सदस्यों ने ब्रिटेन के जीएमटी को ही पूरे विश्व के देशों के समय-स्थापना के लिए स्वीकार किया। क्राइस्ट चर्च से गुजरने वाले देशान्तर को (Prime Meridian) प्राइम मेरीडियन कहा जाने लगा। इस निर्णय के होने का एक मुख्य कारण यह भी था कि उस युग में ब्रिटेन एक प्रभुत्वशाली देश था। इसके पश्चात् समस्त देशों के स्थानीय/राष्ट्रीय समय स्थापित किये।(8)

भारत में अज्ञात काल से प्रचलित पञ्चागों (Almanack/calenders) का इतिहास आश्यर्यों से भरा हुआ है। इनकी संख्या को घटाने तथा सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से सन् 1952 में मेघनाद शाह की अध्यक्षता

में एक समिति बनायी गयी थी। इस समिति ने विभिन्न पञ्चांगों में तारतम्य स्थापित करने का कार्य किया। उन्होंने कलि युग का 6001 वाँ वर्ष

(i) बुद्ध निर्वाण पञ्चांग का 2544 वर्ष लिया।

(ii) विक्रम संवत् का 2057 वाँ वर्ष।

(iii) शक संवत् का 1922 वाँ वर्ष।

(iv) वेदाङ्ग ज्योतिष का 1921 वाँ वर्ष।

(v) बंगाली सन् का 1407 वाँ वर्ष।

(vi) कोल्लम पञ्चाङ्ग (केरल) का 1176 वाँ वर्ष।

इनके अतिरिक्त महावीर निर्वाण पञ्चाङ्ग, हिजरी (Hijri) कलैण्डर, पारसी कलैण्डर, जुडायिक (Judaic) कैलेण्डर आदि भी प्रयोग में रहे। इन पञ्चांङ्गों के आपसी मिलान में भेद हैं।

लगभग पाँचवीं शती से भारत का समय मानक उज्जयनी आधारित रहा। वर्तमान में भी भारतीय समय मानक (Indian Standard Time, IST) उज्जैन स्थान एवं यहीं से गुजरने वाली देशान्तर अल्पान्तरी के आधार पर स्थापित है। (IST) ऐ.आई.एस.टी. का समय मान (GMT) जी.एम.टी. समय मान से 5 घंटे तीस मिनट आगे (ahead) है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब जी.एम.टी. समय मान 00.00.00 हो, उस समय ऐ. आई.एस.टी. का समय मान 05.30.00 निश्चित होगा। ए.आई.सी.टी. में समय मानक को शुद्धतम् स्थापित रखने का कार्य राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला (National Physical Laboratory) के द्वारा संचालित होता है। इस प्रयोगशाला द्वारा स्थापित समय मान में मात्र ± 20 नैनो सेकिण्ड (Nano Seconds) का अधिकतम अन्तर हो सकता है। इसे भी प्रयोगशाला अधिकारी गण परीक्षण के पश्चात् सुव्यवस्थित करते हैं। यह निर्धारण मूल समय नाप व्यवस्था (Primary Time Scale) में पाँच सीसियम घड़ियों (Caesium clokcs) तथा एक हाइड्रोजन मेसर (Hydrogen Maser) की सहायता से होता है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के समय मानो का मेल और हमारे देश के समय मान के साथ टेली क्लॉक (Tele clock) सेटिलाइट लिंक (Sattelite Link) व (Network Time Protocol) न्यटवर्क टाइम प्रोटोकोल के माध्यम से किया जाता है।(10)

वर्तमान मे समय की अति सूक्ष्म इकाईयाँ निम्न प्रकार से स्थापित की गयी हैं -

| | | |
|---|---|---|
| 1 मिलि सेकिण्ड | = | $10^{-3}$ सेकिण्ड |
| 1 माइक्रो (Micro) सेकिण्ड | = | $10^{-6}$ सेकिण्ड |
| 1 नैनो (Nano) सेकिण्ड | = | $10^{-9}$ सेकिण्ड |
| 1 पैको (Pico) सेकिण्ड | = | $10^{-12}$ सेकिण्ड |
| 1 फ्यन्टो (Fento) सेकिण्ड | = | $10^{-15}$ सेकिण्ड |
| 1 अट्टो (Autto) सेकिण्ड | = | $10^{-18}$ सेकिण्ड (2) |

समय की समस्त इकाइयों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह कहना उचित होगा कि ये इकाईयाँ अनन्तता की ओर अग्रसित होती हैं। तब भी यह सोचा गया कि समय का विचार निरपेक्ष है या नहीं। सन् 1905 में आयन्स्टीन ने अपने आधार भूत शोध कार्य द्वारा यह विचार स्थापित किया कि समय का विचार निरपेक्ष नहीं है। गणितज्ञ हेनरी प्यांकरे (Henri Poincare) का भी यही निष्कर्ष था। पूर्वकाल में समय के विचार को निरपेक्ष माना जाता था। आयन्स्टीन ने स्पष्ट किया कि समय के विचार को निरपेक्ष मानकर

आकाशीय पिण्डों का अध्ययन करना अति क्लिष्ट हो जाता है। अध्ययन में भ्रामकता सीमान्त स्थिति में पहुँच जाती है। इस प्रकार के अध्ययनों से प्रकाश की प्रति सेकिण्ड चाल भी ज्ञात हो गयी। यह भी निष्कर्ष निकला कि प्रकाश की गति अधिकतम है। इन्हीं शोधों के कारण लम्बाई मापने का नाम 'मीटर' भौतिक आधार पर न मानकर 'प्रकाश की गति' के रूप में शुद्धतम स्थापित हो गया। प्रकाश द्वारा 0.000000003335640952 सेकिण्ड में चलित दूरी शुद्ध एक मीटर स्थापित की गयी। लम्बाई नापने की इतनी शुद्ध सोच अन्य साधन से नहीं हो सकती(3)

स्टीफेन हॉकिंग कहते हैं कि समय की चाल (arrow of time) को कम से कम तीन ढंग से समझा जा सकता है।

(i) हर व्यवस्थित निकाय में अव्यवस्था बढ़ना (Things always tand to go wrong-Murphy Law)

(ii) मनुष्य को लगता है कि समय निकल रहा है। मनुष्य अपने भूतकाल को कुछ सीमा तक याद रख सकता है पर भविष्य काल के अंश को नहीं। मनुष्य पर समय का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

(iii) ब्रह्माण्ड अनवरत फैल रहा है। ब्रह्माण्ड का लगातार फैलना 'समय' को एक दिश में होना इंगित करता है।

उक्त तीनों विचार 'निकाय में निकाय-उद्वैलन' 'समय का निकलना' व ब्रह्माण्ड का फैलना' समय की चाल को एकदिश होना ही इंगित करता है। हॉकिङ्ग यह भी कहते हैं कि यदि ब्रह्माण्ड कभी सिकुड़ने लगे तब क्या इस प्रभाव से समय भी विपरीत दिशा में, अर्थात् घटने की स्थिति में (reverse & time) चलित होगा, क्योंकि स्थान व समय एक दूसरे से आवद्ध (entertwined) हैं।

कर्टु ग्वेडल (Kurt Godal) वर्तमान समय में महान विचारकों की अग्रिम श्रेणी में रहे हैं। उनका एक शोध पत्र 'A remark on the relationship belween relativity & Theory and Indealistic Philosophy' सन् 1949 का है। लगता है यह शोध पत्र आइन्स्टीन के साथ वार्तालाप करने पर तथा इमैन्युअल कान्त के दार्शनिक विचारों (4) से प्रभावित होने के कारण है। इस शोध पत्र में ग्वेडल ने स्थापित किया कि समय का आगम (Passage of time) केवल भ्रम है। भूतकाल, वर्तमान काल एवं भविष्य काल वृहद दिक्-काल के ही अलग-अलग क्षेत्र हैं। समय दिक्, काल का ही अंश है। दिक्-काल समय के परिक्षेत्र से परे हैं। कुर्ट ग्वेडल ने ब्रह्माण्ड में गणितीय संरचना की कल्पना स्थापित की। भौतिक वस्तुओं का समय आधारित विपरीत दिशा गतिमान होना संभव माना। (6) समय की चाल (arrow of time) को उल्टी दिशा में सोचा जाय तो भ्रामक लगता है पर तार्कित तो है।

काल की इकाइयों के संबंध में कुछ जानकारी पाने, सोचने व इस विचार को अति संक्षेप में लिखने की प्रेरणा स्टीफ़ेन हॉकिङ्ग की पुस्तक ए ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ टाइम (A Brief History of Time) से मिली। Motor Neuron dispase से आजीवन पीड़ित रहने पर, न बोल सकने पर, न चल सकने पर, एक छोटे से कम्प्यूटर जो हर समय उनकी पहियेदार कुर्सी पर लगा था, की परेशानी झेलने पर भी उन्होंने यह पुस्तक उन सामान्य लोगों को दृष्टिगत करते हुए लिखी, जिनका ज्ञान तारा भौतिकी, गणित व ब्रह्माण्ड के बारे में नहीं है। हॉकिङ्ग एक प्रेरणक रहे हैं। यह लेख उनकी याद में उन्हीं को समर्पित है।।

*सी-1-1674, बसंत कुँज,*
*नई दिल्ली-70*

**सन्दर्भ -**


1. *Abie-Alraihan muhammad, Ibn' Ahmad Alberuni : Kitab fi tahagig I ma li' Lhimd English branstation : Indica, An accurate deseription by Edwardc. Sachau Routcage & kegan Panl Ltd. (London) Indian Prient - S. Chand & Co. New Delhi. pp 173, -74, 222, 336-7, 353, 362- 63.*
2. *Chambers Twentieth, Century Dictionary : Allied Publishers, pvt. Ltd. New Delhi (1972) p 1649.*
3. *Hawking, Stephen W. : A Brief History of Time, Bantam Books (London), (1988) pp. 6-12, 20-36.*
4. *Kant, Immanuel : Critique of pure Reason, JM Dent & sons, Ltd (London) (1934) pp 47-54.*
5. *Mehta, Dharm Deva : Some Posilive Sciences in the vedas, the A cademy of vedic. Researchs, 14/13, East Patel Nagar, New Delhi (1959) Book I, p.12, Book II, p.3.*
6. *Rucker Rudy : Infinity & the mind, Prenaton University Press, Prenaten, oxford (2005), pp 10-15, 167*
7. *Scientific American : (Eastern Mediterranean (Nov.2015) pp 42-47.*
8. *San, Amarlya : The Argumen Tative Indian, Pangain Books (London) (2005), pp 317-333*
9. *श्रीमद् भागवद् गीता : (तत्व विवेचनी हिन्दी टीका) विवेचक जयदयाल गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं. 2067), पृ. 393-94 ।*
10. *The Hindu : News, P. 11, Dated 15.6.2017*
11. *The Hindu : Life, P. 18, Dated 19.7.2018*

# राष्ट्रवाद की अवधारणा का वि-औपनिवेशीकरण

*विश्वनाथ मिश्र*

सोवियत संघ के विघटन के बाद पूर्वी यूरोप में नृजातीय (एथनिक) आधार पर अपने जड़ों की ओर लौटने की प्रवृत्ति ने विचारधारात्मक राष्ट्रवाद (आइडियोलॉजिकल नेशनलिज्म) और नागरिक राष्ट्रवाद (सिविक नेशनलिज्म) के दोवों को खोखला साबित कर दिया है। इसी तरह पाकिस्तान के विभाजन ने धार्मिक राष्ट्रवाद (रिलिजियस नेशनलिज्म) की कलई खोलकर रख दिया है। परन्तु जर्मनी का एकीकरण उक्त दोनों घटनाओं के विपरीत सांस्कृतिक, भाषायी, आर्थिक और नागरिक राष्ट्रवाद के पुनर्जीवन की ओर संकेत करता है। दूसरी ओर दुनियाभर के राष्ट्रों में नृजातीय संघर्ष राजनीतिक राष्ट्रवाद (पॉलिटिकल नेशनलिज्म) के भीतर पनप रहे असंतोष को भी प्रकट कर रहे हैं। यह सब तब हो रहा है, जब उदारीकृत, वैश्विक अर्थव्यवस्था अपने वैश्वीकरण के युग में पहुँचकर राष्ट्र-राज्य के 'भौगोलिक अभेद्यता' के सिद्धान्त को तार-तार कर रही है। तकनीकी और संचार क्रान्ति का पुरजोर समर्थन हासिल आज के वैश्वीकरण के युग में हर दिन हम जो सेवा और उत्पाद प्राप्त करते हैं या प्रदान करते हैं उसका एक बड़ा भाग बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा संचालित होता है। अनेक ऐसे बहुराष्ट्रीय निगम हैं जिनकी सकल पूँजी अनेक विकासशील राष्ट्रों के सकल जी.डी.पी. से अधिक है। आर्थिक एवं तकनीकी विकास के ऐसे पड़ाव पर आकर जब राष्ट्रराज्य भौगोलिक इकाई से बढ़कर कास्मोपोलिटन इकाई बनते जा रहे हैं, उसी युग में राष्ट्रवाद के विमर्श को लेकर भी तीव्र बहस जारी है। इस बहस को 'ब्रेक्जिक्ट' और 'अमेरिकन फर्स्ट' जैसे कदम ने 'बहुसांस्कृतिक राष्ट्रवाद'(मल्टीकल्चरल नेशनलिज्म) के पहल को भी कमतर साबित कर दिया है। ब्रेक्जिक्ट और अमेरिकन फर्स्ट आर्थिक दबाव में बहुसंस्कृतिवाद से मुँह मोड़ना है।[1] मतभेदों का समायोजन (सिविलाइजिंग डिफरेंस) करने में बहुसंस्कृतिवादी राष्ट्रवाद के पहल भी नाकाफी साबित हो रहे हैं।[2]

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य और उस अतीत को देखते हुए जहाँ से राष्ट्र और राष्ट्रराज्य बनने की शुरुआत हुई, जिसमें हर राष्ट्र के राष्ट्र बनने की कहानी एक दूसरे से अलग है, ऐसे में राष्ट्रवाद के किसी एक सार्वभौमिक सिद्धान्त की परिकल्पना करना बेमानी है। इस सन्दर्भ में हॉल की यह टिप्पणी उचित है कि राष्ट्र निर्माण की ऐतिहासिक विभिन्नता को देखते हुए वह विभिन्नता राष्ट्रवाद के सैद्धान्तिकरण में हमारी अवधारणाओं में भी होने चाहिए।[3] राष्ट्रवाद को परिभाषित करने में जब राष्ट्र निर्माण की सम्पूर्ण अवधारणाओं और इसके विशाल परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर कुछ कहना हो तो वह कथन बेजहाट की इस उक्ति से अधिक भिन्न नहीं हो सकती है कि जब आप नहीं पूछते हैं तब हमें पता होता है कि यह क्या है किन्तु हम जल्दी से इसे समझ और परिभाषित नहीं कर सकते हैं।[4]

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 19-38*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

**राष्ट्रवाद की आधुनिकता : राष्ट्रवाद से राष्ट्र का उदय**

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के पाठ्यक्रम में विद्यार्थी को यह पढ़ाया जाता है कि राष्ट्र-राज्य को औपचारिक मान्यता 1648 की वेस्टफेलिया संधि में मिली। परन्तु, विद्यार्थी जब राष्ट्रवाद के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य को पढ़ता है तब वह पाता है कि राष्ट्र का सैद्धान्तिकरण सबसे पहले अठारहवीं शताब्दी में हर्डर एवं आगस्टीन की रचनाओं में हुआ और अंग्रेजी भाषा में इसका प्रयोग 1836 में हुआ।[5] यह एक ऐसी टूटी हुई कड़ी है, जिसके भीतर से चार प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रथम, क्या राष्ट्र बन जाने के बाद राष्ट्रवाद की भावना विकसित होती है या राष्ट्रवाद की भावना से राष्ट्र बनते हैं? अथवा दोनों साथ-साथ जन्म लेते और विकसित होते हैं। द्वितीय, क्या राष्ट्र प्राचीन संकल्पना है और राष्ट्रवाद आधुनिक अवधारणा है या दोनों ही आधुनिक अवधारणाएँ हैं? तृतीय, राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया से राष्ट्र और राष्ट्रवाद का क्या संबंध है? चतुर्थ, राष्ट्रवाद के माध्यम से राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का आरम्भ होता है या राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से राष्ट्रवाद का उदय होता है।

उक्त चारो प्रश्नों से हाल के वर्षों में अनेक विचारक जूझते हुए दिखाई देते हैं।[6] उदाहरण के लिए पाकिस्तान के सन्दर्भ में यह कहना कि वहाँ राष्ट्रवाद बिना राष्ट्र के ही सम्भव हुआ और यह आधुनिक शिक्षा प्राप्त मुस्लिम अभिजन की प्रेरणा से हुआ। अन्यथा, भौगोलिक, भाषायी और नृजातीय विविधता के रहते हुए पाकिस्तान धार्मिक-मनोवैज्ञानिक एकता के कारण राष्ट्र नहीं बना है। बल्कि, पाकिस्तान एक राष्ट्र भारत विरोधी रूझान के कारण बना है, जिसमें आधुनिक शिक्षा प्राप्त मुस्लिम बुद्धिजीवियों की महत्वपूर्ण भूमिका है।[7] पाकिस्तान के उदाहरण में यह तर्क चल सकता है कि यहाँ राष्ट्रवाद ने राष्ट्र को जन्म दिया[8] भले ही वह प्रतिक्रियात्मक राष्ट्रवाद हो जो इस्लामिक एकता के सिद्धान्त पर स्थापित हुआ हो। परन्तु इस्लामिक एकता का सिद्धान्त और प्रतिक्रियावादी आधुनिक मुस्लिम बुद्धिजिवियों (अभिजन) की भूमिका पर आधारित पाकिस्तानी राष्ट्र और राष्ट्रवाद का सिद्धान्त 1971 में टूट गया। यहाँ से इस्लामिक एकता और राष्ट्र के सिद्धान्त का अन्तर्विरोध भी, जो था तो पहले से ही परन्तु सतह पर आ गया। इस्लामिक एकता ही यदि अधिक महत्वपूर्ण थी, या इस तर्क का और अधिक विस्तार करें तो धार्मिक पहचान एवं चेतना ही अधिक महत्वपूर्ण है तब दुनिया के प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी राष्ट्रीयता होगी। इससे हर एक धर्म का केवल एक ही राष्ट्र बन सकता है। परन्तु दुनिया की हकीकत दर्शाती है कि धरती पर अनेक इस्लामिक और ईसाई राष्ट्र हैं। क्या यह अभिजन सघर्ष का परिणाम है? कम से कम ब्रियुली ऐसा ही स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं जब वे कहते हैं कि राष्ट्रवाद को एक प्रकार की राजनीति के रूप में समझा जा सकता है जिसका एक उद्देश्य है और वह है राज्य पर आधिपत्य स्थापित करना।[9]

ब्रियुली के उक्त मत के विरूद्ध उन पर एक आक्षेप लगाया जा सकता है। यदि राष्ट्रवाद और अभिजन संघर्ष को एक ही साथ जोड़ दिया जाय तो फिर क्या उन हजारों अभिजन संघर्ष को राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए जो दुनिया भर में चल रहे हैं? और क्या प्रत्येक अभिजन संघर्ष का समापन एक अलग राष्ट्र-राज्य की स्थापना में होता है या बहुत सारे अभिजन संघर्ष सत्ता परिवर्तन और पहचान, मान्यता एवं पुनर्वितरण तथा प्रतिनिधित्व की राजनीति में स्थान पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं? इतिहास में दोनों घटनायें साथ-साथ चलती हुई दिखाई देती हैं। परन्तु, दूसरे समीकरण पर ही अधिकांश अभिजन संघर्षों का समापन हो जाता है। भारत में खालिस्तान, बोडोलैंड, ग्रेटर- तमिललैंड, नागा एवं मीजो आन्दोलन में अब तक यही सिद्ध हुआ है। ब्रिटेन के आयरिश स्वतन्त्रतता की माँग का समापन भी इसी श्रेणी का है। पाकिस्तान में सिंध, बलूच और पख्तून आन्दोलन भी इसी श्रेणी में आते हैं। इन उदाहरणों में अनेक अभिजन संघर्षों का एक ही राष्ट्र और राष्ट्रवाद में समायोजन दिखाई देता है, भले ही उनमें अभी भी पृथक राष्ट्र की चिन्गारी दबी हुई हो। क्या इस हालत में उपर

वर्णित अनेक राष्ट्रों को बिना राष्ट्र के राष्ट्रवाद में वर्गीकृत कर देना उचित है? इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय राष्ट्र और भारतीय राष्ट्रवाद पर जी.एल. एलॉयसियस का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। यह अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि एलॉयसियस भारत को एक बहुराष्ट्रीय-राज्य (मल्टीनेशनल स्टेट) के रूप में नहीं देखते हैं। वे उच्च्य शिक्षित ब्राह्मण वर्ग के ब्रिटिश शासन में आने और परम्परागत तथा संकुचित प्रवृत्तियों के रक्षण में उनकी भूमिका से भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म देखते हैं। इन परम्परागत तथा संकुचित प्रवृत्तियों के रक्षण की योजना को गाँधी बखूबी संचालित करते थे और इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि इससे नेतृत्व संघर्ष उत्पन्न नहीं होगा।[10] गाँधी के इस योजना का भारत के राष्ट्रवाद पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि इस राष्ट्रवाद में समाजिक परिवर्तन की गति धीमी हो गई। इसी पुस्तक में लेखक ने नारायण गुरु, रामास्वामी नाइकर, मंगूराम और ज्योतिबा फुले आदि के सन्दर्भ में बहिष्कृत राष्ट्रीयताओं (एक्सक्लूडेड नेशनलिटीज) के नेतृत्व की चर्चा भी की है, जो अपने जाति विरोधी संघर्ष में राजनीतिक राष्ट्रवाद की उपेक्षा कर दिए।

भारत में यदि गाँधी सिन्थिसिस से राष्ट्रवाद का जन्म मान लिया जाय तो इसने एक साथ दो काम किया। एक तो इसने सामाजिक परिवर्तन की पुरजोर सिफारिश नहीं करके समूहों की गतिशीलता को आधुनिकता की पकड़ में जाने से रोका।[11] दूसरे इसने ब्रह्मचर्य, स्वैच्छिक गरीबी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, सन्यासी जीवन की सादगी, सत्य, मानवता और अहिंसा जैसे बड़े लक्ष्य को सामने रखा। अतः प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने वाले  नेतृत्व को भी छोटे लक्ष्य सामने रखने की गुंजाइश कम हो गयी। इस गाँधी सिन्थिसिस से जिस राष्ट्रवाद का जन्म हुआ उसमें अनेक समूह बाहर रह गये। यद्यपि गाँधी की योजना में सर्व-समावेशी राष्ट्रवाद की धारणा ही मूल उद्देश्य था परन्तु भारत में दूसरी शक्तियाँ भी कार्य कर रही थीं जो इस धारा के खिलाफ सक्रिय थीं। इसी कारण भारत में राष्ट्रवाद तो आया पर इसमें सभी समूहों का राष्ट्र नहीं था।

एलॉयसियस का यह तर्क कि भारत में वंचित समूहों के नेतृत्व ने राजनीतिक राष्ट्रवाद का लक्ष्य सामने नहीं रखा और गाँधी के राष्ट्रवाद में जनसमूह शामिल नहीं हैं, एक संकेत छोड़ जाता है। वह संकेत है विभिन्न समूहों में ऐसी राष्ट्रवादी चेतना का आगमन जिससे अलग-अलग समूह अलग-अलग राष्ट्रीयता के आधार पर अपने लिए राष्ट्र-राज्य की माँग करने लगें। परन्तु, गाँधी के अखिल भारतीय नेतृत्व की और वंचित समूहों के क्षेत्रीय नेतृत्व की इस विशिष्टता को एलॉयसियस समझने में विफल रहे कि विकृतियों का विरोध करने का मतलब भारतीयता का विरोध करना नहीं होता है। यदि पाकिस्तान की घटना (भारत का विभाजन) को छोड़ दिया जाय तो गाँधी सिन्थिसिस की यह महत्वपूर्ण भूमिका है इसने भारत को अन्य संभावित टुकड़ों में बँटने से बचाया और ऐसा उन्होंने अभिजन संघर्ष और आधुनिकता के विभाजनकारी प्रभावों को सीमित करके किया। परन्तु, सभी समाजों में गांधी जैसा नेतृत्वकर्ता कम ही मिलता है।

राष्ट्रवाद को राष्ट्र बनाने के आधार के रूप में मान्यता देना एक आधुनिक विचार है। ई.जे. हॉब्सबॉम मानते हैं कि राष्ट्र से राज्य या राष्ट्रवाद नहीं बनता है बल्कि राज्य से राष्ट्र और राष्ट्रवाद निकलता है।[12] वे आधुनिकता, राजनीतिक विचारधारा और अभिजन की भूमिका को इसमें महत्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु, गाँधी की भूमिका को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता के प्रतिरोध के द्वारा भी राष्ट्रवाद को विकसित किया जा सकता है। यह एक ऐसा पड़ाव है जहाँ यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि किसी अभिजन समूह के द्वारा आधुनिकता, राजनीतिक विचारधारा और राष्ट्रवाद का प्रयोग करके राष्ट्र को कैसे जन्म दिया जा सकता है? जब गाँधी ने आधुनिकता के प्रतिरोध के द्वारा राष्ट्रवाद को जन्म दिया तो कमसे कम वे स्वयं यह मानते हैं कि भारत का राष्ट्र बनना आधुनिक परिघटना नहीं है। भारत अंग्रेजों के आगमन के पूर्व से ही राष्ट्र रहा है। इस तरह भारत में गाँधी जिन समेकित मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन करते हैं वे राष्ट्र की पूर्व पीठिका पर ही स्थित हैं। अतः यहाँ राष्ट्र की वजह से राष्ट्रवाद का उदय मानना ही उचित है।

भारत और गांधी के इस समीकरण की चर्चा अगले खंड के लिए छोड़ देना अधिक उपयुक्त है। यहाँ राष्ट्रवाद से राष्ट्र के उदय और इसमें आधुनिकता तथा अभिजन के समीकरण को समझ लेना जरूरी है। इस समीकरण में आधुनिकता, अभिजन और राजनीति एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। राष्ट्रवाद को जन्म देने में आधुनिकता की भूमिका को संस्कृति के धर्मनिरपेक्षीकरण, औद्योगीकरण, पूँजीवाद के संस्थानीकरण और लोकप्रिय सम्प्रभुता आधारित राज्य निर्माण के सन्दर्भ में देखा जाता है।[13] हॉब्सबॉम भी जब फ्रांस की राज्यक्रांति से फ्रांस में राष्ट्रवाद के उदय को देखते हैं तब उनकी मान्यता भी यही होती है। इस मान्यता के विरूद्ध तर्कों के आधार पर विचार किया जाना आवश्यक है। प्रथम, क्या लोकप्रिय सम्प्रभुता में सहभागिता जो कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य के निर्माण का एक आधार है, अपने परिणाम में निर्णय निर्माण में सहभागिता और राजनीतिक-प्रशासनिक एकरूपता से भिन्न है? यदि नहीं तो फिर अलग-अलग प्रशासनिक संगठन में काम करने वाले लोग राष्ट्र क्यों नहीं बन जाते हैं या उनमें उपराष्ट्रीय पहचान क्यों नहीं विकसित हो जाती है? द्वितीय, संस्कृति का धर्मनिरपेक्षीकरण यदि राष्ट्रवाद को जन्म देता है तब यह सांस्कृतिक मामलों में विवेक के प्रयोग और अन्तर-सांस्कृतिक तथा अंतःसांस्कृतिक टकराव को रोकने के अतिरिक्त यदि कुछ नहीं है तब यह मानववाद की ही परिणति है। इस दृष्टि से अलग-अलग राष्ट्रों में रह रहे सभी विवेकवादी, मानवतावादी एक ही राष्ट्र क्यों नहीं बन जाते हैं? तृतीय, औद्योगीकरण एवं पूँजीवाद की भूमिका व्यक्ति के परम्परागत सामाजिक संस्तरण में परिवर्तन, शहरीकरण, रोजगार के नये अवसर और नवीन सामाजिक पहचान से है तो शहर, भूमिका और पहचान के हर परिवर्तन राष्ट्रवाद को जन्म क्यों नहीं देते हैं? चतुर्थ, यदि यह कहा जाय कि आधुनिकता परम्परागत समाज के विभाजन को कम करके लोगों को 'हम' होने की जो नई पहचान प्रदान करता है उससे राष्ट्रवाद का जन्म होता है। तब इस तर्क के विरूद्ध भी अनेक तथ्य हैं जैसे श्रमिक और पूँजीपति, गाँव और शहर तथा शोषित और शासक का विभाजन आधुनिक समाजों में भी बना ही रहता है।

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए और राष्ट्रवाद को जन्म देने में आधुनिक काल में अभिजन की भूमिका पर एक नये पहलू से भी विचार करना आवश्यक है। यदि आधुनिकता और आधुनिकीकरण राष्ट्रवाद को जन्म देते हैं तब निश्चय ही इसे शहरी घटना भी मानना होगा। रोजगार की तलाश में गाँवों को छोड़कर आया हुआ व्यक्ति शहर में परिप्रेक्ष्य विहीन है। मनुष्य की इसी परिप्रेक्ष्य विहीनता को मनुष्य की आधुनिक अवधारणा में पश्चिमी चिंतन में शामिल किया गया है। जहाँ उसे अ-ऐतिहासिक, अ-सामाजिक, स्वार्थी और अहंवादी कहकर परिभाषित किया गया है।[14] मनुष्य को परिभाषित करने की यह पश्चिम में इतनी प्रभावी परम्परा है कि एक बार यह मैकियावेली से आरम्भ होकर निरन्तरता के साथ जान राल्स तक देखने को मिलती है। आज के वैश्वीकरण के दौर में व्यक्ति की यह परिभाषा अधिक प्रभावी ही हुई है। ऐसे में यह विचार करने की आवश्यकता है कि व्यक्ति की अणुवादी धारणा (समाज से कटा हुआ व्यक्ति) से परिभाषित होने वाला प्राणी राष्ट्रवाद की सामूहिकता को क्यों और कैसे धारण करना चाहेगा? सिद्धान्ततः यह उसके लिए एक बाधक तत्व है। उसके लिए आधुनिकता परम्परागत समाजों की सामूहिकता के प्रति विद्रोह और व्यक्तिगत पहचान एवं स्वतंत्रता के प्रति आग्रह है। तब वह राष्ट्रवाद जैसे सामुहिकता में अपनी पहचान एवं स्वतंत्रता को क्यों दफन करना चाहेगा? फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पहले लोगों को स्वतंत्रता,समानता जैसे अधिकार प्राप्त नहीं थे। अतः यह कहा जा सकता है कि फ्रांस की राज्यक्रांति में अपने अधिकारों को लेकर जो एकजुटता लोगों ने दिखाई उसी से राष्ट्रवाद का उदय हुआ; हॉब्सबॉम ऐसा मानते भी हैं परन्तु वे राज्य से राष्ट्र की उत्पत्ति दिखाते हैं।[15] इस तर्क को मान लेने पर भी राष्ट्रवाद शोषण के प्रतिकार के रूप में व्यक्त होता है। किन्तु, अन्याय के प्रतिकार के बाद अणुवादी व्यक्ति की धारणा में विश्वाश करने वाला मनुष्य किसी सामूहिकता की स्थाई मनोवृति में बंधकर

क्यों रहना चाहेगा? क्या इसलिए कि फिर वह कभी शासन एवं अन्याय का शिकार न हो जाय? यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो राष्ट्रवाद को राज्य एवं प्रशासन के सतत् प्रतिरोध के रूप में देखना होगा। परन्तु, अधिकांश विचारकों ने जो आधुनिकता और आधुनिकीकरण के परिणाम के रूप में राष्ट्रवाद को देखते हैं, वे राष्ट्र को राष्ट्र-राज्य के रूप में ही पहचानते हैं। इस स्थिति में आधुनिकता और आधुनिकीकरण एवं औद्योगीकरण राष्ट्रवाद के गैर-चेतन उपादान हैं, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा। इन गैर चेतन उपादानों से राष्ट्रवाद की चेतना अभिजन के द्वारा उत्पन्न किया जाता है और उसे बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। फ्रांस में इस चेतना का निर्माण स्थापित शासन सत्ता के विरोध में किया गया। परन्तु, ब्रिटेन में इस चेतना का प्रयोग शासन में सुधार के लिए किया गया। बांग्लादेश में इसका प्रयोग एक नवीन राज्य की प्राप्ति के लिए हुआ और 1990 में जर्मनी में इसका प्रयोग दो राज्यों को मिला देने के लिए हुआ। यदि यह सब राष्ट्रवाद है तब राष्ट्रवाद का प्रयोग दोधारी तलवार की तरह होता है। प्रथम चरण में अभिजन इस धारणा का प्रयोग जड़ से कटे हुए लोगों को उनकी मुक्ति के दावे के साथ प्रयोग में लाते हैं। खासकर, तब जब एक शासक अभिजन या व्यवस्था को बदलता हो। परन्तु, एक बार शासन पर काबिज हो जाने के बाद दूसरे चरण में अभिजन आम लोगों में शासकीयता (फूको की अवधारणा गवर्नमेंटलिटी)[16] उत्पन्न करने के लिए राष्ट्रवाद का प्रयोग करते हैं। इस अवस्था में राष्ट्रवाद कोई ऐसी अवधारणा नहीं हो सकती है जो कि राष्ट्र को असंशोध्य (मोडिफिएबल) धारणा मानने के मार्ग में बाधक हो। यह धारणा राष्ट्रवाद को एक नैतिक धारणा के रूप में भी स्थापित नहीं करती है जबकि, नैतिक धारणा बने बिना राष्ट्रप्रेम की अभिव्यक्ति और राष्ट्र पर न्यौछावर हो जाने की प्रेरणा राष्ट्रवाद से भी सम्भव नहीं है। यद्यपि देश प्रेम और राष्ट्रवाद पर्यायवाची नहीं हैं परन्तु दोनों के मध्य अन्तर भावनाओं की तीव्रता से ही है, दोनों एक दुसरे पर निर्भर करते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रवाद को राष्ट्र की उत्पति के एक घटक के रूप में देखने और इसे एक आधुनिक विचार मानने से कोई भी अध्येता राष्ट्रवाद की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का अध्ययन नहीं कर सकता है। इसी तरह राष्ट्रवाद को एक राजनीतिक विचार मात्र मान लेने से राष्ट्रवाद कोई ऐसा विचार नहीं बन पाता है जो शहीद होने की प्रेरणा देता है। यह एक दृष्टि से राष्ट्रवाद का पतन भी है। पतन इसलिए कि राजनीतिक राष्ट्रवाद अपनें में राष्ट्रवाद की नैसर्गिक चेतना को शामिल नहीं कर पाता है। टैगोर के गोरा में राष्ट्रवाद, महर्षि अरविन्द की रचना सावित्री में वर्णित राष्ट्रवाद और गाँधी के हिंदस्वराज का राष्ट्रवाद इस दृष्टि से भिन्न है। इन तीनों के राष्ट्रवाद में मशीन बनते जा रहे राज्य से राष्ट्रवाद को बचाने की भरपूर कोशिस की गई है।

**राष्ट्रवाद की प्राचीनता : राष्ट्र से राष्ट्रवाद का उदय**

राष्ट्रवाद के विमर्श में कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो राष्ट्रवाद को राष्ट्र के जन्म का कारण बताने की जगह राष्ट्र की धारणा से राष्ट्रवाद की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसे अध्ययन में राष्ट्रवाद को जिस राष्ट्र से जोड़ा जाता है वे नृजातीय (एथनिक) मूल के होते हैं। ऐसे अध्ययनों में आदिम तत्वों जैसे वंश, प्रजाति, भाषा, धर्म आदि से जुड़े लगाव को राष्ट्र का स्रोत बताया जाता है।[17] इन अध्ययनों में बताया गया है कि धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र और औद्योगीकरण ने पहचान के आदिम तत्वों को अधिक सशक्त किया है। इन अध्ययनों के तह में जाते हुए स्मिथ यह भी बताते हैं कि धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र और औद्योगीकरण की भूमिका स्थितिजन्य होती है। इसके विपरीत आदिम पहचान के तत्वों का प्रयोग करके अभिजन समूह सुविधानुसार बड़े पैमाने पर जन-समूह को पक्षपातपूर्ण तरीके से शक्ति एवं सम्पदा की प्राप्ति के लिए आन्दोलित करने में सफल हो जाते हैं।[18] स्मिथ स्वयं राष्ट्रवाद को एक आधुनिक अवधारणा मानते हैं। उनके चिन्तन में वंश, प्रजाति, भाषा, धर्म आदि राष्ट्रवाद के स्रोत तो हैं किन्तु एक ऐसे रूपांतरण के परवर्ती हैं जो रूपांतरण अभिजन समूह उन्हें प्रदान करता है।

प्राचीन नृजातीयता को राष्ट्र की महत्वपूर्ण कड़ी मानने वाले विद्वानों में आर्मस्ट्रांग[19] का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आर्मस्ट्रांग का मानना है कि ईजिप्ट एवं मेसोपोटामिया के उपलब्ध साक्ष्यों से नृजातीयता और राष्ट्रवाद का अविच्छेद संबंध स्थापित होता है। यद्यपि इस संबंध को स्थापित करने के लिए जैसा कि स्मिथ मानते हैं, आर्मस्ट्रांग ने बार्थ के सामाजिक अन्तःक्रिया के लिए ''सीमा अनुभूति'' (बाउण्ड्री परसेप्शन) का सहारा लिया है। बार्थ का तर्क है कि समूह अपनी परिभाषा का अवधारणीकरण दूसरों (अदर) से अपने को अलग करके करते हैं। जब समूह दूसरों से अपने को पृथक करने में भौगोलिक सीमा का सहारा लेने में (परिस्थितिवश) सक्षम नहीं होते हैं तब वे सामूहिक पहचान के लिए धर्म, वंश आदि दूसरे आदिम सामूहिक पहचानों का उपयोग करते हैं।[20] आर्मस्ट्रांग मानते हैं कि दूसरों (इसके लिए उन्होंने अपरिचित शब्द का भी प्रयोग किया है) के सन्दर्भ में अपने समूह को परिभाषित करने के लिए जिन प्रतीकों का प्रयोग लोग करते हैं वे स्थायी हो जाते हैं और अन्ततः इसी से भौगोलिक तथा सामाजिक पहचान जुड़ जाते हैं।

आर्मस्ट्रांग के विशलेषण में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह उजागर होता है कि सामुहिक आदिम पहचानों के साथ जब भौगोलिक पहचान मिल जाती है तब राष्ट्र और राष्ट्रवाद के साकार होने का प्रतिमान बन जाता है। यद्यपि इस सन्दर्भ को वे बहुत अधिक खोलने की कोशिश नहीं करते हैं।[21] परन्तु, इस स्थापना को यदि यहुदी राष्ट्र और जूलिया क्रिस्तेवा के विमर्श के साथ जोड़कर देखा जाय तो इसका व्यापक सन्दर्भ उजागर हो सकता है। 1948 से पहले यहुदी राष्ट्र तो हैं किन्तु उनकी पहचान नृजातीय समूह के रूप में है। 1948 में इजराइल राज्य की स्थापना होने से उन्हें भौगोलिक पहचान प्राप्त हुई। आधुनिक युग में भौगोलिक और राजनीतिक पहचान राष्ट्र-राज्य की स्थापना के साथ-साथ एक होते चले गये। यह वास्तव में राष्ट्रीयता का नागरिकता में बदलाव है। इस बदलाव का जो परिणाम है उसे ऐसे कहा जा सकता कि राष्ट्र लोगों के मन में रहता है और लोग राज्य में रहते हैं। राष्ट्र से लगाव राज्य से लगाव की अपेक्षा तीव्र होता है। प्रत्येक राज्य यह अपेक्षा करता है कि उसे भी वैसा ही समर्पण एवं आस्था प्राप्त हो जैसा राष्ट्र को प्राप्त है। परन्तु राष्ट्र अमूर्त होने के कारण व्यक्ति से टकराता नहीं है। जबकि राज्य आये दिन पहचान, पुनर्वितरण, मान्यता, प्रतिनिधित्व, हित संरक्षण, प्राथमिकता निर्धारण आदि को लेकर व्यक्ति से टकराता है। राष्ट्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा उत्पन्न नहीं करता है जबकि राज्य के लिए ऐसा करना तब आवश्यक हो जाता है जब विभिन्न व्यक्तियों के स्वतन्त्रता संबंधी दावे परस्पर विरोधी होते हैं। राष्ट्र पर कोई वर्ग काबिज नहीं होता है जबकि राज्य पर कोई न कोई शासन करने वाला वर्ग काबिज रहता है। इतिहास में और वर्तमान में राज्य पर काबिज रहने वाला वर्ग अपने प्रति असंतोष को बिखेर देने के लिए भी राष्ट्रवाद का सहारा लेता है और राज्य की सुरक्षा के लिए भी राष्ट्रवाद का प्रयोग है। भारत में हिन्दुत्व के प्रति खतरा, मुस्लिम देशों में इस्लाम के प्रति खतरा की जब बात होती है तब इसके मूल में राजनीतिक पहचान की अपेक्षा सामूहिक पहचान (राष्ट्र) के प्रति ही खतरे की बात की जाती है। कभी यह खतरा वास्तविक होता है और कभी खतरे के नाम पर लोगों को इस तरह से एकजुट करने की कोशिश की जाती है कि इसके जरिए या तो कोई नया सत्ता समीकरण बन जाये या सत्ता बनी रहे। परन्तु, ऐसा भी नहीं है कि आधुनिक राज्यों को राष्ट्र बनने की दिशा में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। राज्य की किसी विशिष्ट उपलब्धि पर जनता में जिस सामूहिक हर्ष का संचार होता है वह राज्य को राष्ट्र बनाता है। विशेषकर जब वह उपलब्धि अनैतिक साधनों का प्रयोग किए बिना हो तब यह प्रभाव अधिक स्थायी होता है। भारत में भी तिलक, गाँधी इत्यादि विचारक जो ब्रिटिशराज के पूर्व से ही भारत को एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं उनके लिए राष्ट्र ही राष्ट्रवाद का आधार है। यदि राष्ट्र को राष्ट्रवाद के आधार के रूप में माना जाता है तब इसे राजनीतिक रूप से स्वायत्त या अ-राजनीतिक (अ-पॉलिटिकल) विचार के रूप में भी देखा जाना जरुरी है। ऐसा करना इसलिए भी

जरुरी है कि प्राचीन समय में जब साम्राज्य का सदस्य होना या न होना व्यक्ति की इच्छा का विषय नहीं। तब राजनीतिक सक्रियता के लिए व्यक्ति के पास अवसर भी सीमित थे किन्तु उन स्थितियों में भी व्यक्ति जातीय और 'सीमा अनुभूतियों' (बाउण्ड्री परसेप्शन) से अलग नहीं था। अतः यह कहना अधिक सही होगा कि राष्ट्रवाद और राष्ट्र दोनों प्राक्आधुनिक विषय हैं और इन्हीं का राजनीतिक फ्रेमवर्क में अवधारनीकरण आधुनिक काल में हुआ है। टैगोर के गोरा में राष्ट्रवाद, महर्षि अरविन्द की रचना सावित्री में वर्णित राष्ट्रवाद और गाँधी के हिंदस्वराज का राष्ट्रवाद इसी मिट्टी पर जन्मे राष्ट्रवाद को पाल पोषकर बड़ा करना चाहते हैं और उसमें उद्दात्त मानव चेतना का समावेश करना अपना लक्ष्य बनाते हैं।

**राष्ट्रवाद : अपरिचित से भय और परिचित का समावेशन**

राज्य का राष्ट्र बनना एक परवर्ती घटना है। यदि आर्मस्ट्रांग के फ्रेमवर्क में विचार करें तो जिन समूहों के आदिम पहचान को इतिहास में लम्बे समय से भौगोलिक पहचान भी प्राप्त था उनके लिए राष्ट्र-राज्य बनना सापेक्षिक रूप से सरल था। राष्ट्र-राज्य बनना उन समूहों के लिए और भी सुगम था, जिन्हें सामूहिक आदिम पहचान और भौगोलिक पहचान के साथ लम्बे समय से राजनीतिक संरक्षण भी प्राप्त था। आर्मस्ट्रांग जब यह कहते हैं कि आदिम समूह अपरिचितों के सन्दर्भ में अपने को परिभाषित करते हैं, तब इतना तो स्पष्ट है कि वह अपरिचित समावेशीय नहीं हैं। क्या इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्र बनने में वंश, गोत्र, प्रजाति, भाषा, संस्कृति, धर्म आदि के साथ-साथ अपरिचित रह जाने का भय भी राष्ट्र की अवधारणा को निर्मित करने में सहायक है? अथवा, अन्य तत्वों के साथ-साथ अपरिचित रह जाने या अपरिचित से भय भी राष्ट्र की धारणा को जन्म देने में सहायक है? इस प्रश्न का उत्तर देने की दिशा में आर्मस्ट्रांग नहीं जाते हैं। परन्तु, इस प्रश्न के फ्रेमवर्क से राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता को समझने में अधिक गहरे तक उतरा जा सकता है। प्रश्न का यह फ्रेमवर्क जूलिया क्रिस्तेवा की दो रचनाओं 'नेशन्स विदाउट नेशनलिज्म' और 'स्ट्रेन्जर्स ऑफ अवरसेल्वस' के पाठ से बनता है। अधिकांश चिन्तकों की नजर से वह बदलाव ओझल हो गया है जो एक नृजातीय समूह के राष्ट्र बनने के क्रम में उसमें आता है। ऐसा इस कारण से हुआ कि अधिकांश चिंतकों ने नृजातीयता का राष्ट्रीयता में बदलाव को राजनीतिक और आधुनिक मान लिया। परन्तु यदि नृजातीयता ही राष्ट्र का मूल पदार्थ है तब उन बदलावों को रेखांकित करना जरूरी है, जिससे वह राष्ट्रीयता में तब्दील होती है। यह तब्दिली समूह का जितना आन्तरिक मसला है उतना ही बाह्य उपक्रम भी है। आन्तरिक उपक्रम के रूप में नृजातीय समूहों का राष्ट्र बनना अपरिचित रह जाने की भय का भी परिणाम है। इसको एक उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। एक युवती जब बहु बनकर ससुराल में आती है तब वह ससुराल में अपरिचित है। इसी तरह ससुराल के लोग भी बहु से अपरिचित हैं। परन्तु, परिचित होने का दबाव पितृसत्तात्मकता के कारण बहु पर अधिक होता है। उसकी स्मृतियों में मायके का पक्ष जितना सघन होगा वह उतने ही विलम्ब से सुसराल में परिचित होगी। उससे अपेक्षा की जायेगी कि वह जल्दी से परिचित हो जाय। यह उसके लिए पीड़ादायी भी होगा परन्तु उसके लिए एक सामूहिक उद्देश्य (दो परिवारों का) की खातिर यह जरूरी भी होगा। ठीक इसी तरह नृजातीय समूह जब राष्ट्र बनने लगते हैं तब वे 'सिविक' होने लगते हैं। जिस तरह उक्त उदाहरण में पितृसत्ता एक दबाव है उसी तरह प्रत्येक नृजातीय समूह का प्रभावी वर्ग दबाव होता है। क्योंकि, अभिजन या विशिष्ट समूहों को बाहर की गतिविधियों में सहभागिता के अवसर अधिक होते हैं। वह दूसरे समूहों के मूल्यों, रीति-रिवाजों आदि से अपने समूह के अन्य लोगों की अपेक्षा पहले परिचित होता है और उसे अपनाता है। इस क्रम में वह धीरे-धीरे कुछ रूढ़िगत नृजातीय मान्यताओं को छोड़ता भी है। वास्तव में इसी प्रक्रिया से वे सिविक बनते हैं। समूह में जो नृजातीय रूढ़ियों को पकड़े रह जाते हैं, जो आदिम के साथ प्युरिटनवादी दृष्टि रखते हैं वे सिविक होने में विलम्ब करते हैं। परन्तु, एक समय विशेष के पश्चात् जब उन्हें लगता है कि वे पीछे रह जायेंगे

तब वे भी सिविक बनने की कोशिश में लग जाते हैं। यह उनमें अपरिचित रह जाने का भय ही है। यह भय बाह्य प्रभावों जैसे पर्यावरण, समीपवर्ती 'अदर' आदि के कारण पूरे समूह में भी पायी जा सकती है। स्पार्टा से पराजय के पश्चात् एथेंस वासियों में यह भय देखा जा सकता है जब प्लेटो जैसे शिक्षक उन्हें स्पार्टा से सीखने की प्रेरणा देते हैं।[22]

स्पार्टा और एथेंस के उपर्युक्त उदाहरण में अपरिचित से भय का भी समीकरण सम्मिलित है। अपरिचित से भय आदिम समूहों को राष्ट्र बनने में दो अलग-अलग तरीके से प्रभावित करती है। प्रथम, आन्तरिक नृजातीय मतभेदों को भूलकर उनपर सिविक चरित्र प्राप्त करने का बोझ डालकर। द्वितीय, यदि समाज में कोई बहुत प्रभावी नृजातीय समूह हो तो उसमें संविलयन की स्थिति उत्पन्न करके। यहाँ यह समझना भी आवश्यक है कि अपरिचित रहने का भय यदि नृजातीय पहचान को सिविक पहचान में बदलने का एक आधार प्रदान करता है तब अपरिचित रह जाने का आग्रह एक हिंसा बन जाता है। इसी तरह अपरिचित रह जाने के आग्रही समूहों को नागरिकता के लाभों से दूर रखना भी हिंसा है। राष्ट्र-राज्य की आधुनिक धारणा में ऐसी कोई अभियांत्रिकी नहीं है जो दोनों हिंसा को एक साथ समाप्त करने का साधन उपलब्ध कराती हो। सैद्धान्तिक रूप से इस अन्तर्विरोध के बीज पहचान और अपरिचित होने के द्वन्द्व में है। जूलिया क्रिस्तेवा इसे फ्रांस राज्य क्रान्ति में घोषित सार्वदेशीय मानवाधिकार के घोषणा पत्र और नागरिक अधिकारों के संवैधानिक रूपरेखा में देखती है।[23] नागरिकता के अधिकार सार्वदेशीय नहीं होते हैं, यह पहचान आधारित है। जबकि, मानवाधिकार अपरिचितों को भी समावेशित करती है परन्तु यह नागरिक अधिकार नहीं होते हैं। जब राष्ट्र के पहचान का आधार दूसरे राष्ट्रों से सामूहिक भिन्नता के संकेतक हों तब विभिन्न राष्ट्रों के मध्य तनाव का बने रहना भी स्वाभाविक है खासकर तब जब राष्ट्र और राष्ट्रवाद का विचार संशोध्य न हो। इस स्थिति में अतीत को भूलना और राष्ट्रवाद को साथ-साथ रहने हेतु प्रतिदिन का जनमत संग्रह मानकर भी कोई नया मार्ग नहीं खोजा जा सकता है। यद्यपि रैनन ने राष्ट्रवाद को अतीत को भूलना और साथ-साथ रहने हेतु प्रतिदिन का जनमत संग्रह ही कहा है।[24] रैनन का यह विचार एक राष्ट्र की राष्ट्रीयता के लोगों में अतीत के संघर्ष को भुलाने के लिए सहायक हो सकता है। किन्तु यह दो अलग-अलग राष्ट्रों के संघर्ष की रोकथाम के लिए कारगर नहीं है।

आदिम समाजों में राष्ट्र बनने के क्रम में अपरिचित रह जाने के भय का जो समूह सफलतापूर्वक प्रतिकार कर लेता है, वह साथ-साथ रहते हुए प्रतिरोध और समावेशन की नीति का अनुशरण करता है। इस प्रक्रिया में जो व्यापक फलक उभरकर सामने आता वह राष्ट्र को बहुसांस्कृतिक राष्ट्र बनाता है। भाषायी पहचान और उसके क्षेत्रीय समूहीकरण के सन्दर्भ में इस प्रक्रिया को भारत के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। भारत में भाषा के आधार पर पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगु आदि नृजातीय पहचान के साथ-साथ भौगोलिक पहचान भी हैं। पाल ब्रास जैसे विचारक इन्हें भारत की अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के रूप में भी देखते हैं।[25] परन्तु, यह सब राष्ट्र नहीं है। इन समूहों को पश्चिमी अवधारणा के राष्ट्र और राष्ट्रीयता के समीकरण में देखने पर इन सभी के लिए राष्ट्रीय-आत्मनिर्णय के द्वार खुले हुए हैं। परन्तु, जो तथ्य इन्हें राष्ट्र बनने से रोकती है वह भाषायी एवं भौगोलिक पहचान के उपर ''हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ''[26] को वरीयता देना है। इन समूहों के उदाहरण में भाषायी और भौगोलिक पहचान प्रतिरोध के प्रतीक हैं और ''हिन्दू वे ऑफ लाइफ'' समावेशन का संकेतक है। अपने पृथक पहचान के कारण उक्त समूह राष्ट्रीयतायें तो हैं किन्तु इनका राष्ट्रवाद भारतीय है। इन उदाहरणों में भाषायी पहचान को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति अपरिचित बने रहने का समूह का सामूहिक निर्णय है। परन्तु, प्रतिरोध के स्वर को ''हिन्दू वे ऑफ लाइफ'' एक ऐसा आधार प्रदान करता है जहाँ परिचित होने का एक नया मार्ग खुल जाता है। परिणाम स्वरूप अपरिचित रहने का सामुहिक निर्णय पृथक रहने के सामूहिक निर्णय में नहीं बदल पाता है। उक्त उदाहरण में यदि ''हिन्दू वे ऑफ लाइफ'' को (पार्थ चटर्जी एवं गेलनर के फ्रेमवर्क में) उच्च संस्कृति का समाज पर आरोपण[27] मान लिया जाय तब पृथकता और समावेशन एक

क्षेत्र में अपरिचित रह जाने की सामूहिक इच्छा और दूसरे क्षेत्र में समावेशन को अपनाने की योजना की व्याख्या सम्भव नहीं है। परन्तु, ठीक यही बात पूर्वोत्तर भारत के लिए नहीं कही जा सकती है। इस उदहारण को यहाँ प्रस्तुत करने का एक विशेष संदर्भ को उजागर करना है। पूर्वोत्तर भारत का उदहारण यह बताता है कि विभिन्न समूह समावेशन के प्रति रणनीतिक भी होते हैं। प्रत्येक अवस्था में ऐसा नहीं होता है कि समावेशन की प्रकृति आरोपित ही हो। अनुकरण और प्रतिरोध साथ-साथ चल रहे होते हैं।

राष्ट्र बनने के क्रम में कोई समूह किस हद तक पृथक रहने की नीति का अनुसरण करता है और किस हद तक समावेशन की नीति का पालन करता है, इसकी कोई सार्वभौमिक और सार्वकालिक योजना इतिहास में नहीं है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। 1905 ई. में प्रशासनिक सुविधा के तर्क पर जब बंगाल का विभाजन किया गया तब हिन्दू और मुस्लिम के धार्मिक पहचान और विभाजन ने इस विभाजन का साथ नहीं दिया। तब दोनों समूहों ने अपनी भाषायी पहचान के आधार पर इसका प्रतिरोध किया। किन्तु 1947 में यह भाषायी पहचान की एकता धरी की धरी रह गई और धार्मिक पहचान के आधार पर एक ही भाषायी पहचान के समुदाय बंट गये।[28] इस घटना की व्याख्या करते हुए अभिजन समूह की राष्ट्रवाद को दिशा देने में जो भूमिका होती है उसको भी समझा जा सकता है। ऐसा नहीं होता है कि अभिजन समूह सदैव इतना प्रभावशाली हो कि वह अपनी इच्छा से राष्ट्र का निरूपण और राष्ट्रवाद का संयोजन कर सकता है। उदाहरण के लिये भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में राष्ट्रवादी एकजुटता को विस्तृत करने के लिए कांग्रेस ने भाषा के आधार पर अपनी क्षेत्रीय इकाईयों को गठित करने का निर्णय लिया। सबसे पहले 1908 में सिन्ध को भाषा के आधार पर कांग्रेस की क्षेत्रीय इकाई बनाया गया। 1920 में सम्पूर्ण देश हेतु इस योजना को स्वीकार कर लिया गया। इससे राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न भाषायी समूहों का समावेश हुआ। यह एक अभिजन निर्णय था जिसका जन-समूह ने समर्थन किया। परन्तु, जब यही अभिजन समूह स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रवादी एकजुटता के मार्ग में भाषायी पहचान को बाधक नहीं बनने देने हेतु बहुभाषी राज्यों का गठन किया, तब अभिजन का यह निर्णय चार साल भी टिक नहीं पाया। इस निर्णय को बदलकर 1953 से भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की जो शुरुआत हुई वह एक केन्द्रीय अभिजन निर्णय के विरूद्ध क्षेत्रीय अभिजन और इसमें जन- समूह की भूमिका को रेखांकित करता है। परन्तु, इससे भारतीय राष्ट्रवाद का ह्रास नहीं हुआ। वस्तुतः जब राष्ट्रवाद के उभार में अभिजन की भूमिका को विशेष रूप से रेखांकित किया जाता है तब इसमें अभिजन संघर्ष और जन समूह की भूमिका उपेक्षित हो जाती है। यदि राष्ट्रवाद को एक विचारधारा[29] के रूप में भी स्वीकार कर लिया जाय और यह कहा जाय कि आधुनिक काल में अभिजन समूह ने राष्ट्रवाद को एक विचारधारा के रूप में विकसित किया है तब भी इसमें एक गंभीर कमी रह ही जाती है। उस कमी को दो प्रश्नों के उत्तर से समझा जा सकता है। वह प्रश्न यह है कि राष्ट्रवाद का एक विचारधारा के रूप में प्रयोग करके अभिजन समूह क्या करता है? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। प्रथम, राष्ट्रवाद का प्रयोग करके अभिजन समूह अपरिचित रह गये विभिन्न समूहों को पहचान देता है। द्वितीय, राष्ट्रवाद का प्रयोग करके अभिजन समूह सत्ता परिवर्तन करता है। इस दृष्टि से राष्ट्रवाद परेटो के 'सर्कुलेशन ऑफ इलीट' का एक माध्यम है। किसी भी समाज में अभिजन की विचारधारा विशेष जन समूह की विचारधारा हो सकती है किन्तु यह एक समाज में सभी की विचारधारा नहीं हो सकती है। जबकि राष्ट्रवाद की सफलता किसी भी समाज में सबकी विचारधारा होने में है। पर जिस दूसरे प्रश्न की बात कही गयी है वह यह है कि एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद आमूल-चूल परिवर्तनवादी है या विभिन्न माँगों एवं दावों की एक योजना है? राष्ट्रवाद को आमूल-चूल परिवर्तनवादी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह बहुत कुछ ऐसा होता है जिसमें प्युरिटनवादी पैठ होती है। अतः यह माँगों एवं दावों की व्यवस्था ही अधिक है। इसमें माँग और दावे क्या होंगे यह समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण के आधार पर सुनिश्चित होता है जो अलग-अलग समाजों के परिस्थिति सापेक्ष

होते हैं। फ्रांस के सन्दर्भ में यदि हॉब्सबाम के मत को स्वीकार कर लिया जाय कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने फ्रांस में राष्ट्रवाद और राष्ट्र के युग का सूत्रपात किया। तब यहाँ माँग स्वतन्त्रता, समानता और न्याय हैं तथा दावे के रूप में मनुष्य मात्र की प्राकृतिक समानता है। इसी तर्क का भारत के सन्दर्भ में विस्तार किया जाय तो यहाँ राष्ट्रवाद की माँग ब्रिटिश सरकार से स्वतन्त्रता है और दावे उपनिवेशवाद को मानवता का शत्रु मानना है। ऐसे में यह समझना जरूरी है कि यदि राष्ट्रवाद अभिजन समूह के द्वारा विकसित की गई विचारधारा है तो एक अभिजन समूह के सत्ता से बाहर हो जाने और नये अभिजन समूह के सत्ता पर काबिज हो जाने पर क्या राष्ट्रवाद भी बदल जाता है? यह एक ऐसा पक्ष है, जिसका स्पष्टीकरण स्मिथ की रचनाओं में नहीं मिलता है। क्योंकि, वे एक ही साथ दो विरोधी मान्यताओं को साथ लेकर चलते हैं। वे राष्ट्रवाद को एक विचारधारा मानते हुए कहते हैं कि राष्ट्रवाद एक ऐसी विचारधारा है जो राष्ट्र को केन्द्र में रखते हुए तीन जातिगत लक्ष्य (जेनरिक गोल) को प्राप्त करना चाहती है। वे जेनरिक गोल हैं- राष्ट्रीय स्वायत्तता, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय पहचान।[30] उपर्युक्त कथन में राष्ट्र की प्रतीति राष्ट्रवाद से पूर्व होती है। परन्तु, स्मिथ आगे कहते हैं कि मैं जिस परिभाषा को प्रस्तावित कर रहा हूँ उसमें राष्ट्रवाद से पूर्व राष्ट्र का पूर्वाभास होता है किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि राष्ट्र अपने राष्ट्रवाद से पूर्व होते हैं।[31] चूँकि स्मिथ ने राष्ट्रीय पहचान को प्राप्त करना भी राष्ट्रवाद का एक लक्ष्य रखा है और इस कारण यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि इस पहचान को किस ''अदर'' के परिप्रेक्ष्य में प्राप्त किया जाना है। इस अवस्था में वह ''अदर'' एक राष्ट्र ही है, जिसके सन्दर्भ में कोई समूह अपनी पहचान बनाता है और इससे भी राष्ट्रवाद से पूर्व राष्ट्र की अवधारणा स्थापित होती है। ऐसा करना अनवस्थादोष से बचने के लिए एक तार्किक बाध्यता भी है।

**राष्ट्रवाद : काल्पनिक समूह या वास्तविक**

अरर्नेस्ट गेलनर राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में कहते हैं कि यह आत्म चेतन होने के लिए राष्ट्र की जागृति नहीं है बल्कि यह राष्ट्र की वहाँ खोज है जहाँ यह नहीं हैं।[32] इसी तरह स्मिथ जब कहते हैं कि राष्ट्रवाद का एक लक्ष्य राष्ट्रीय पहचान प्राप्त करना है[33] तब उनके लिए राष्ट्र का क्या मतलब होता है? गेलनर के लिए राष्ट्रवाद एक राजनीतिक सिद्धान्त (प्रिन्सिपल) है, जिसका अर्थ यह है कि राजनीतिक और राष्ट्रीय इकाई एक ही होने चाहिए।[34] यह एक सामाजिक अवस्था है, जिसकी उत्पत्ति आधुनिकता द्वारा लाए गये बदलावों के सन्दर्भ में प्रकार्यात्मक आवश्यकता के कारण होती है।[35] इस प्रकार्यात्मक आवश्यकता का जन्म कृषक समाज से औद्योगिक समाज में रूपान्तरण के क्रम में होता है। भाषा (बोली) का मानकीकरण, सांस्कृतिक एकरूपता, एक ही प्रकार की शिक्षा, औद्योगिक उत्पादन में सहभागी होने के लिए विशेष प्रकार का प्रशिक्षण और शहरी जीवन वे प्रकार्यात्मक आवश्यकतायें हैं जो गेलनर के सिद्धान्त में राष्ट्रवाद के सहायक तत्व हैं।[36]

प्रश्न उठता है कि कृषक समाज का औद्योगिक समाज में रूपान्तरण ऐसा क्या बदलाव करता है जहाँ राष्ट्रवाद आवश्यक हो जाता है? इस तथ्य को यहाँ विस्तार से समझने की जरूरत है। औद्योगिक समाज कृषक समाज के सामूहिक पहचान की अनेक धारणाओं को तोड़ देता है या कमजोर कर देता है। औद्योगिक समाज में प्रदत्त प्रस्थिति[37] की अपेक्षा अर्जित[38] प्रस्थिति की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। यहाँ व्यक्ति की पहचान उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से नहीं होती है बल्कि एक इकाई के रूप में होती है जो अपने पद के साथ अवैयक्तिक (इम्पर्सनल) संबंध रखता है (नौकरशाही इसका श्रेष्ठ उदाहरण है)। औद्योगिक समाज में यदि कृषक समाज की परम्परागत नृजातीयता- आधारित संबंध को बनाये रखने की ईजाजत दे दी जाय तो इससे क्लेश और कयास ही बढ़ते हैं। इसी कारण विधि के समक्ष समानता और विधि की सर्वोच्चता का आधुनिक सिद्धान्त सभी नागरिकों को उनकी पृष्ठभूमि का संज्ञान लिए बिना उन्हें समान मानता है। ऐसे में समस्या यह होती है कि सहयोगियों तथा कार्य और पद से अवैयक्तिक संबंध रखने वाला मनुष्य किस आधार पर उच्च

निष्पादन (कार्य क्षमता) का प्रदर्शन करेगा। कृषक समाज में वह वंश, जाति और गोत्र के गौरव तथा व्यक्तिगत व्यवसाय के लाभ से प्रेरित होकर उच्च निष्पादन का प्रदर्शन कर सकता था। परन्तु, जब एक बड़े जन-समूह को पूँजीपतियों के व्यवसाय या राज्य के उद्योग में नियोजित होना है जहाँ उसका स्थायी रूप से कुछ भी नहीं है, वह सेवा के बदले मजदुरी प्राप्त करके उच्च निष्पादन क्षमता का प्रदर्शन पुरे समर्पण के साथ नहीं कर सकता है। न ही प्रतिस्पर्धी संबंधों के कारण साथी सहयोगियों के साथ स्थायी लगाव स्थापित कर सकता है। इस स्थिति में राष्ट्रवाद एक ऐसी जरूरत के रूप में सामने आती है जो कामगारों में उच्च निष्पादन की भावना और साथियों से लगाव की भावना उत्पन्न करती है। आन्तरिक रूप से और बाह्य रूप से इन संबंधों को कोई दूसरी शक्ति प्रभावित न करे इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए औद्योगिक समाज अपने को राजनीतिक और सम्प्रभु समाज के रूप में संगठित करता है। इसे ही गेलनर राष्ट्रवाद के जरिये राष्ट्र को वहाँ खोजना बताते हैं जहाँ वह है नहीं या इसे ही स्मिथ राष्ट्रवाद की विचारधारा कहते हैं। हॉब्सबाम भी जब फ्रांसीसी क्रान्ति से फ्रांस को राष्ट्र के रूप में बनते हुए देखते हैं तब उनका आशय भी यही है।

पश्चिम के जिन समाजों में सामन्तवाद के पतन, विवेकवाद, धर्मनिरपेक्षता, औद्योगीकरण तथा विभिन्न बोलियों और भाषाओं के मर जाने के बाद राष्ट्र-राज्य स्थापित हुए। उनके लिए बहुत हद तक गेलनर, स्मिथ, हाब्सबाम आदि का विश्लेषण निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि राष्ट्रवाद में अतीत के प्रति जो गौरव बोध होता है उसकी समुचित व्याख्या उक्त विचारकों को पश्चिमी समाजों के हकीकत और इतिहास को भूलने का इतिहासबोध तथा भावनाओं पर विवेक को प्रतिष्ठित करने की वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन की विधा अंत तक प्रभावित करती है। जिसके कारण इनकी दृष्टि से पश्चिम में ही राष्ट्र और राष्ट्रवाद के दूसरे तत्व ओझल हो जाते हैं। इन विचारकों ने सत्यापनीय तथ्यता को अधिक महत्व देते हुए व्यक्ति के मन में रहने वाले राष्ट्र की अपेक्षा राष्ट्र के भौतिक उपादानों पर अपने विश्लेषण को अधिक केन्द्रित किया है, जिसने राष्ट्र और राज्य की दूरी को बहुत हद तक ओझल कर दिया है।

उपर्युक्त कमी को बेनेडिक्ट एन्डरशन ने कुछ हद तक दूर करने की कोशिश की। यद्यपि उक्त विचारकों की तरह वे पश्चिमी राष्ट्रवाद के सूत्रीकरण का प्रयास नहीं कर रहे थे। बल्कि, उनके अध्ययन के केन्द्र में राष्ट्रवादी बनते जा रहे समाजवादी राज्यों का राष्ट्र बन जाना और तीसरी दुनिया के देशों का राष्ट्रवाद था। परन्तु इससे पश्चिमी राष्ट्रवाद की भी परतें खुलती हैं। एन्डरशन सोवियत संघ और चीन तथा चीन और वियतनाम के संघर्ष को देखकर उस मार्क्सवादी विचारधारा पर संदेह करते हैं, जिसने अपने को राष्ट्रवाद के विरूद्ध खड़ा किया था।[39] इस सन्दर्भ में एन्डरशन को हॉब्सबाम की यह उक्ति सटीक प्रतीत होती है कि मार्क्सवादी आंदोलन और राज्यों ने बाह्य स्वरूप एवं आंतरिक संरचना में राष्ट्रवादी चरित्र ग्रहण कर लिया है।[40] हॉब्सबाम को यह उम्मीद थी कि यह प्रवृत्ति स्थायी नहीं होगी परन्तु, समाजवादी राज्यों के अवसान ने उस उम्मीद को धूल-धूसरित कर दिया। इस सन्दर्भ में यह एक सच्चाई के रूप में स्वीकार कर लेने लायक तथ्य आज हमारे युग में है कि राष्ट्रवाद ने मार्क्सवाद के ऐतिहासिक असफलता को प्रदर्शित किया है।[41] इस असफलता को दो आधारों पर प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रथम, दुनिया के मजदुरों को एकजुट करने की मार्क्सवादी विचारधारा के साथ चलने वाली समाजवादी राज्यों का एक-दूसरे से टकराव में जहाँ सर्वहारा से अपने राज्यों का साथ देने की दिलचस्पी दिखाई पड़ती है। द्वितीय, सोवियत संघ के विघटन के बाद सोवियत भू-भाग पर अनेक राष्ट्रवादी सरकारों की स्थापना। इस दूसरी घटना ने यह साबित कर दिया कि 73 सालों की विचारधारात्मक पहचान के सतह के नीचे जो नृजातीय पहचान छिपी हुई थी उसमें राष्ट्र बनने के गुण-सूत्र बहुत गहरे स्तर पर पैठ बनायी हुई थी और जिसे समाजवादी प्रणाली की शिक्षा व्यवस्था, जिसमें राष्ट्रवाद का गौरव बोध जगाने वाली कोई प्रणाली नहीं थी, नष्ट नहीं कर पायी।

इसी तरह भारत में राष्ट्रवाद का उदाहरण लें तो 1857 में जो हिन्दू-मुस्लिम एकता दिखाई पड़ी और जिसे सम्पूर्ण भारतीय ज्ञानोदय में एक मुख्य घटक के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया उसके दावे 1947 में खोखले साबित हुए। सोवियत संघ और भारत की इस घटना में एक समानता हैं। सोवियत संघ में मजदूर एकता का आदर्श समूहों के परम्परागत पहचान से जुड़े मिथकीय आदर्श से बड़ा मिथकीय इतिहासबोध उत्पन्न नहीं कर पाया। इसी तरह भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक भारत में कभी भी इन जातियों के जातीय गौरवबोध के प्रतीकों से बड़े नहीं हो पाये। सोवियत संघ में मजदूर एकता का आदर्श कुछ समय के लिये ईसा मसीह और मुहम्मद साहब को मार्क्स-लेनिन के पीछे ढकेल दिया, पर विस्मृत नहीं किया। इसी तरह भारत में तुलसी के राम और कबीर के राम कभी एक नहीं हो पाये। बाहरी तौर पर सोवियत संघ का विघटन और भारत का विभाजन राष्ट्रवाद और मानवतावाद के परिप्रेक्ष्य में भी एक समानता दर्शाता है। सोवियत संघ में मार्क्सवाद के आदर्श के आधार पर वर्ग विभाजन को समाप्त करके व्यक्ति के लिए मानवतावादी पहचान अर्जित करना एक लक्ष्य था। परन्तु, वहाँ पुराने वर्ग विभाजन को समाप्त करने के उपक्रम में नए वर्ग विभाजन ने जन्म ले लिया। भारत में जातीय एवं धार्मिक विभाजन को राष्ट्रवाद से विस्थापित किया जाना था किन्तु इस राष्ट्रवाद पर जातीय एवं धार्मिक विभाजन भारी पड़ गया। क्या ऐसा इसलिए हुआ कि ''प्रिन्ट कैपिटलिज्म'' ने लोगों को अपने अतीत को भूलने नहीं दिया या इन घटनाओं के मूल में कुछ दूसरी कहानियाँ भी हैं? इस प्रश्न का उत्तर हमें एन्डरशन के अध्ययन की ओर ले जाता है।

अन्य विचारकों की तरह एन्डरशन भी राष्ट्रवाद को एक आधुनिक घटना मानते हैं। एन्डरशन राष्ट्र को ऐसे कल्पित राजनीतिक समुदाय के रूप में परिभाषित करते हैं जो कल्पित होने के साथ-साथ अपने में सीमित और सम्प्रभु भी है।[42] राष्ट्र इस अर्थ में काल्पनिक नहीं है कि जिस अर्थ में 'काल्पनिक' यथार्थ का विलोम होता है। यह इस अर्थ में काल्पनिक है कि एक छोटे से छोटे राष्ट्र के लोग भी न तो सभी से परिचित होते हैं और न ही सभी को जानते हैं।[43] यह इस अर्थ में सीमित होता है कि इसका विस्तार सम्पूर्ण मानवजाति तक नहीं हो सकता है।[44] यह सम्प्रभु इस अर्थ में है कि इस अवधारणा का जन्म पश्चिमी ज्ञानोदय एवं क्रान्ति (वैज्ञानिक) के द्वारा जब वंशानुगत राज्यों के दैवी अधिकार सिद्धान्त के स्थान पर आधुनिक सम्प्रभु राज्यों का उदय हो रहा था तब इसने उन सम्प्रभु राज्यों को वैधता प्रदान करने के साथ अपने को उनसे जोड़ लिया।[45]

एन्डरशन के राष्ट्र विमर्श को समझने के लिए उन अन्तर्विरोधों को समझना भी जरूरी है, जिसे वे पूर्ववर्ती विचारकों के विशलेषण में पाते हैं। इन अन्तर्विरोधों को स्वयं एन्डर्सन ने तीन वर्गों में बाँटा है। प्रथम, एक इतिहासकार की दृष्टि से राष्ट्रों की वस्तुनिष्ठ आधुनिकता बनाम राष्ट्रवादियों की दृष्टि से राष्ट्रों की व्यक्तिनिष्ठ प्राचीनता।[46] एन्डरशन का सांदर्भिक अभिप्राय यहाँ यह है कि कि इतिहासकार वस्तुनिष्ठ नजरिये से राष्ट्र को आधुनिक परिघटना मानता है, जिसमें आधुनिकीकरण के उपादानों का योगदान स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत राष्ट्रवादी राष्ट्र के प्रति मूल्यात्मक दृष्टि रखता है और राष्ट्र की खोज और उसकी प्रमाणिकता की पड़ताल अतीत में जाकर करता है। द्वितीय, एक सामाजिक-सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में राष्ट्रीयता की सार्वभौमिकता बनाम राष्ट्रीयता के यथार्थ, स्थितिपरक और असंशोध्य (इररिमिडिएबेल) अभिव्यक्त वास्तविकता।[47] एन्डर्सन यहाँ जिस अन्तर्विरोध को रेखांकित करते हैं, वह व्यक्ति की राष्ट्रीयता और समूह की राष्ट्रीयता को इंगित करता है। स्वयं एन्डरशन इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि जैसे हर व्यक्ति की राष्ट्रीयता और विशिष्ट गुण-धर्मों वाली (सुई जेनेरिस) ग्रीक राष्ट्रीयता। तृतीय, राष्ट्रवाद की प्रचण्ड राजनीतिक शक्ति (प्रेरणा) बनाम इसका दार्शनिक-बौद्धिक दारिद्रय।[48] इस तथ्य का स्पष्टीकरण देते हुए एन्डरशन लिखते हैं कि दूसरी अवधारणाओं (वादों) की तरह राष्ट्रवाद के कोई हॉब्स, मार्क्स या बेबर सदृश प्रतिपादक नहीं हैं।

परन्तु एन्डरशन ने अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रवाद के सिद्धान्तकारों के विचारों में जो अन्तर्विरोध दिखाया है वे स्वयं उनका अपने सिद्धान्त में समावेश भी कर लेते हैं। ऐसा कहने के अनेक महत्वपूर्ण आधार हैं। इनमें से पहला वह आधार है जिसकी ओर पार्थ चटर्जी संकेत करते हैं कि यह राष्ट्र जो कल्पित समुदाय है वह किन लोगों का कल्पित समुदाय है? औपनिविशिक शोषण के शिकार रहे देशों में जहाँ राष्ट्रवाद राष्ट्रीय संघर्ष में विजय का प्रतीक (फीचर) है। जहाँ स्वतंत्रता के बाद संस्था निर्माण और आर्थिक विकास के लिये उसी आधुनिकता को स्वीकार किया गया जो शोषण के प्रतीक भी थे। राष्ट्रवाद ऐसे समाजों में एक ऐसे ''माड्युलर'' के रूप में सामने आता है, जिसमें 'इमेजिन्ड कम्यूनिटी' का चुनाव करना है और इस चुनाव में तृतीय विश्व के देश स्वतन्त्र भी नहीं हैं। क्योंकि, यह माड्युलर भी उन्हें प्रथम विश्व से ही प्राप्त हुआ है।[49] एन्डरशन की स्थापना पर चटर्जी का यह आक्षेप इस मान्यता पर आधारित है कि कल्पित समुदाय का चुनाव करने में भी समूह स्वतंत्र हों, यह जरूरी नहीं है। इस आक्षेप का विस्तार करते हुए दूसरे सन्दर्भ भी उपस्थित किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए एक ही समाज में और एक ही स्रोत से जब अलग-अलग तरह की प्रेरणा से राष्ट्र विमर्श तैयार किया जा रहा हो तब किसकी इमेजिन्ड कम्यूनिटी मानी जाएगी। इसे एक तथ्यात्मक विश्लेषण के द्वारा स्पष्ट करना यहाँ समीचिन होगा। सावरकर ने इंडिया हाउस में विजयदशमी के दिन अनेक भारतीयों को एकत्रित करके, जिनमें गाँधी भी थे, एक ओजस्वी भाषण दिया। इस भाषण में सावरकर ने राम को शक्ति का प्रतीक बताते हुए अंग्रेजी राज के विरूद्ध भारतीय स्वतन्त्रता के लिए हिंसा के प्रयोग का समर्थन किया। वहीं गाँधी ने भी राम को शक्ति का प्रतीक बताया किन्तु उन्होंने राम की शक्ति को तुलसी की चौपाई में व्यक्त किया- ''सौरज धीरज जेहि रथ चाका, सत्यशील दृढ़ ध्वजा पताका''।[50] इन दोनों ही विमर्शों से जिनके स्रोत एक ही हैं परन्तु दोनों से अलग-अलग राष्ट्र निर्मित होते हैं और गुण-धर्म के आधार पर दो अलग-अलग प्रकृति के राष्ट्रवाद को प्रस्तावित करते हैं। इतना ही नहीं राम भी अपने राष्ट्र को संगठित कर रहे हैं और रावण भी परन्तु दोनों एक दूसरे के प्रतिरोधी हैं और दोनों की इमेजिन्ड कम्यूनिटी के प्रेरणा स्रोत शिव हैं। इन उदाहरणों पर तथ्यात्मक होने के बजाय साहित्यिक होने का आरोप लगाया जा सकता है। अतः यहाँ सिकन्दर के उस भाषण का भी उल्लेख करना आवश्यक है जो दारा से युद्ध के पहले सिकन्दर अपने सैनिकों के सामने भाषण देते हुए उन्हें ग्रीक के गौरव के लिए युद्ध करने को कहते हैं। वे कहते हैं कि दारा की ओर से भी ग्रीक लड़ रहे होंगे किन्तु वे धन की लालच में लड़ रहे हैं और हम ग्रीक के गौरव विस्तार के लिए लड़ रहे हैं।[51]

उक्त उदाहरणों पर एक अन्य आक्षेप भी लगाया जा सकता है कि इनमें राष्ट्र को वहाँ खोजने की कोशिश है जहाँ वह है ही नहीं। यह एक ऐसा आक्षेप है जो एन्डरशन द्वारा प्रतिपादित राष्ट्र विमर्श के अन्तर्विरोधों में उपर वर्णित प्रथम अन्तर्विरोध में व्यक्त भी हुआ है। एन्डरशन यह स्वीकार करते हैं कि इतिहासकार की वस्तुनिष्ठ दृष्टि राष्ट्रवाद को आधुनिक मानती है और राष्ट्रवादी की मूल्यात्मक दृष्टि राष्ट्र को पूर्व आधुनिक मानती है। ऐसे में क्या एन्डरशन ने कोई नया सूत्र विकसित किया है। वे स्वयं मुद्रण-पूँजीवाद को और लेटिन के स्थान पर अंग्रेजी तथा अन्य आधुनिक युरोपीय भाषाओं के उदय को एक ऐसे आधार के रूप में देखते हैं, जो एक साथ दो काम कर रहे थे। पहला तो यह कि अब लोगों का आपस में संवाद आसान हो गया था और दूसरा यह कि स्मृतियों के खजाने छपकर लोगों के हाँथ लग गये थे । निश्चय ही इससे बँटे हुए लोग 'हम' होते जा रहे थे जो राष्ट्रवाद की एक आवश्यक शर्त है। इसी तरह मध्ययुगीन वंशवादी और रूढ़िगत-धार्मिक आस्था आधारित राजनीतिक प्रणालियों का ह्रास भी आधुनिक यूरोपीय राष्ट्रों के उदय में सहायक सिद्ध हुआ। जहाँ तक प्रिन्ट कैपिटलिज्म का प्रश्न है, उसे यदि प्राचीन स्मृतियों से लोगों को रूबरू करा देने के सन्दर्भ में समझा जाय तब भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। वह प्रश्न यह है कि स्मृतियों के ताजा

होने से जो समूह राष्ट्र बन सकते हैं या बन गये वही समूह उन्हीं स्मृतियों को जीते हुए राष्ट्र क्यों नहीं बन गये थे? क्या इसके लिए प्रश्न को इस तरह से उपस्थित करना समुचित नहीं हो सकता है कि प्राक-आधुनिक काल में यदि राष्ट्र नहीं थे तब लोग अपनी पहचान किस आधार पर करते थे ? क्या तब लोग वंश, गोत्र, जाति के आधार पर ही अपनी पहचान करते थे या इन सबके साथ अपनी पहचान को भौगोलिक और राजनीतिक निष्ठा से भी जोड़ते थे? यहाँ स्पार्टा और एथेंस युद्ध के पश्चात् एथेंस के मृत सैनिकों के सम्मान में पेराक्लिज के अंत्येष्टि भाषण का उल्लेख एक दृष्टान्त प्रस्तुत कर सकता है, जिसमें वह एथेंस के गौरव को अपने हृदय में उतार लेने की अपेक्षा श्रोताओं से करते हैं।[52] इस उदाहरण में एथेंस एक पहचान है जो भौगोलिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक इकाई भी है और उक्त उदाहरण में ही एक इमेजिन्ड कम्युनिटी का बोध भी उनमें है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रीक साहित्य में ऐसे सैकड़ों उदाहरण उपस्थित हैं। ऐसे में वे राष्ट्र क्यों नहीं हैं? इस प्रश्न का एन्डरशन के हवाले से एक उत्तर वाल्टर बेंजामिन के मसीही काल की अवधारणा और सजातीय रिक्त समय की अवधारणा के माध्यम से मिलता है।[53] यद्यपि मसीही काल की अवधारणा ईसा पूर्व के समाजों पर लागू नहीं होती है। इस अवधारणा को ईसाइयत के विस्तार से ही जोड़कर देखा जाना उचित है। ग्रीक समाज में जहाँ पैगन आस्था प्रणाली का प्रचलन है वहाँ लोगों के पास सजातीय रिक्त समय उपलब्ध है। सजातीय रिक्त समय काल की वह अवधारणा है, जिसमें लोग अपने वृहद समूह से अनभिज्ञ रहते हुए भी परोक्ष रूप से उनके समकालीन गतिविधियों से परिचित होते हैं। मुद्रण का विकास इस समजातीय रिक्तकाल को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुआ। इससे लागों में एक इमेजिन्ड कम्युनिटी होने का बोध विकसित होता है। यह समजातीय रिक्त काल भी ग्रीक लोगों के पास आज की अपेक्षा बहुत छोटे आकार का समाज होने के कारण उपलब्ध है। परन्तु, ग्रीक नगर-राज्य के अवसान के पश्चात जो रोम साम्राज्य स्थापित हुआ, उसमें समजातीय रिक्त काल का ह्रास जरूर दिखाई पड़ता है। इस साम्राज्य के एक छोर पर कौन लोग कल थे और आज नहीं हैं; इसका ज्ञान भी साम्राज्य के दूसरे छोर पर स्थित लोगों को कम ही होता था। यह यूरोप में राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद के रूपान्तरण का ऐसा काल है जहाँ अनेक राष्ट्रीयताओं के समजातीय रिक्त काल को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया गया। परन्तु, ऐसा भी नहीं है कि रोम साम्राज्य ने समजातीय रिक्त काल के लिए दूसरे विकल्प उपलब्ध नहीं कराये। ग्रीक कालीन समाज में समजातीय रिक्त काल में समूह की पहचान के लिए कला, कौशल और नागरिक गुण तथा नृजातीयता महत्वपूर्ण आधार थे। इसी तरह रोमन काल में कम से कम कांस्टेनटाइन के पूर्व प्राकृतिक कानून और साम्राज्य का गौरवबोध पहचान का आधार था। यद्यपि, यह मूल्यात्मक अधिक और तथ्यात्मक कम था।

ईसाइयत के उदय और रोमन साम्राज्य के पवित्र रोमन साम्राज्य में बदल जाने के बाद मसीही काल की अवधारणा ने सभी पहचानों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया। मसीही काल की अवधारणा में अतीत और भविष्य समकालीक प्रकृति के होते हैं और वर्तमान तत्तक्षण प्रभाव का होता है। इसमें मनुष्य के वर्तमान पहचान का महत्व कम है क्योंकि उसके पहचान का अंतिम निर्धारण 'न्याय के अन्तिम रात' में होना है। यद्यपि मसीही काल की अवधारणा ने नृजातीय, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहचान को नष्ट कर दिया ऐसा तथ्य नहीं है। बल्कि तथ्य यह है कि यूरोप में इस मसीही काल की अवधारणा ने समूह के साथ व्यक्ति के लगाव तथा समूह के प्रति व्यक्ति की जिम्मेदारी के भार को उसके कंधों से उतारकर मसीही निर्देशों के संरक्षण में रख दिया। लगभग इसी समय साम्राज्य का सामन्ती विभाजन भी यूरोप में व्यक्ति की राजनीतिक निष्ठा को तोड़ दिया। ऐसी स्थिति जब दो शताब्दी तक बनी रही तब यूरोप में ग्रीक काल की राष्ट्र परम्परा के बोध स्मृतियों के गर्त में चले गये। वास्तव में मुद्रण पूँजीवाद ने उन्हीं स्मृतियों को उभारने का कार्य किया। परन्तु, जब मुद्रण पूँजीवाद अपने कार्य योजना में लगी थी, तब उसका उद्देश्य किसी राष्ट्रवाद को जन्म देना कम से कम सुनियोजित रणनीति नहीं थी।

यह एक ऐसा प्रतिफल था जो साहित्य बेचकर लाभ कमाने के उपक्रम में धीरे से बीच में आ गया। इसी अवधि में साम्राज्य के टूटने और आधुनिक यूरोपीय राज्यों के स्थापित होने का क्रम भी चल रहा था जहाँ स्मृतियों में बसे राष्ट्र को राज्य के संस्थापकों ने आसानी से अपने साथ जोड़ लिया।

इस सम्पूर्ण समीकरण को भारतवर्ष के सन्दर्भ में देखने से राष्ट्रवाद के विचारों और सिद्धान्तों को अधिक स्पष्ट तरीके से प्रस्तुत किया जा सकता है। भारत में पाण्डुलिपियों के युग से ही सन्यास और श्रुत परम्परा के कारण ज्ञान और लोक विमर्श समजातीय रिक्त काल के माध्यम बनते रहे। यह सही है कि यह माध्यम आज के इलेक्ट्रानिक मीडिया की तरह प्रतिक्षण सूचना के संवाहक नहीं होते हैं। परन्तु ठहरे हुए समाजों में न तो प्रतिक्षण सूचना बनने लायक बदलाव घटित होते हैं और न ही सूचना के लिए सूचना का उत्पादन होता है। श्रुत परम्परा और सन्यास परम्परा निश्चित ही समजातीय रिक्तकाल में ऐसा अवकाश प्रदान नहीं करते जहाँ एक समूह दूसरे समूह के आदतों रीति-रीवाजों, पहचान के स्थूल प्रारूपों से एक-दूसरे को परिचित कराये। जैसा कि पश्चिम में प्रिन्ट कैपिटलिज्म ने किया। श्रुत एवं सन्यास परम्परा भारत में जीवन के श्रेय और प्रेय लक्ष्यों और उसके विमर्श को पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण में संप्रेषित करने के माध्यम रहे हैं। पूरे भारतवर्ष में जीवन के मूल्यबोध की एकता इसी से उत्पन्न हुई है।

भारत में समजातीय रिक्त काल का माध्यम धार्मिक यात्राएँ भी रही हैं।[54] खासकर तब जब अतीत में यह यात्राएँ समूह में होती थीं और जब यातायात के तीव्र गति के माध्यम नहीं थे। तब इन यात्रओं के अनेक पड़ाव होते थे। इन पड़ावों में रात्रि विश्राम के स्थल अन्तर सांस्कृतिक संवाद के केन्द्र बन जाते थे। भारत की शास्त्रीय भाषाओं में एक भाषा-भाषी का दूसरे भाषा-भाषी से संवाद की गुंजाइश भले ही कम हो किन्तु यदि कोई यात्री क्षेत्रीय बोलियों के सहारे भारत में पैदल भ्रमण करते हुए चले तो उसे संवाद स्थापित करने में असहज नहीं होना पड़ता है। अतीत में यह संभावना आज की अपेक्षा और भी अधिक थी। सन्यास परम्परा में 'चार्तुमास' की व्यवस्था भी भारत में मूल्य व्यवस्था की एकता को जन्म देने और इमेजिन्ड कम्यूनिटी की एकता को बनाये रखने की एक प्रभावी परिपाटी रही है। चातुर्मास अषाढ़ गुरु पूर्णिमा से आरम्भ होकर आश्विन मास तक रहता है। इस अवधि में सन्यासी एक ही स्थान पर निवास करते हैं। इस अवधि में जहाँ भी वे रहते थे वहाँ नित्य प्रति कथा-प्रवचन, ज्ञानोपदेश, स्वाध्याय उनका व्रत होता था। भारत के राष्ट्रवाद को आद्योपान्त समझने से पूर्व राष्ट्र विमर्श के उपर्युक्त विश्लेषण से कुछ सूत्र प्रस्तावित कर लिया जाना आवश्यक है।

राष्ट्रवाद एक अनुभूति है जो समूह के गौरव के साथ व्यक्ति को भावनात्मक एकता के साथ जोड़ती है। इस भावनात्मक एकता की अनुभूति दूसरी ही ऐसी अनुभूतियों से इस अर्थ में भिन्न होती है कि यह विभाजन और एकता का परिणाम भी है और विभाजन तथा एकता को जन्म भी देती है। वंश जब विभाजित होकर जातियाँ (ट्राइब) बनने लगती हैं और बोलियाँ जब भाषा बनने लगती हैं और समूह बहिर्विवाही होने लगते हैं, तब राष्ट्र निर्माण (नेशल फारमेशन) की प्रक्रिया शुरु हो जाती है। यह भावनात्मक अनुभूति जहाँ एक समूह के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधती है वहीं दूसरे ऐसे ही समूहों से अपने लिए पृथकता का भी बोध उत्पन्न करती है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए राजनीतिक अनुरक्षण की कोई न कोई प्रणाली उत्पन्न करता है। चूँकि वंश को विभाजित होकर ट्राइब बनने में, बोलियों को भाषा बनने में और समूह के बहिर्विवाही होने में प्रत्येक समूह की अपनी अलग-अलग कहानी होती है और इसी कारण प्रत्येक समूह के राष्ट्र बनने की प्रक्रिया भी अलग-अलग होती है। इसी से उसकी पृथक और विशिष्ट पहचान भी बनती है। राष्ट्र निर्माण में अनिवार्यतः दो चरण होते हैं। प्रथम चरण में वंश के विभाजन से जाति या नृजाति का निर्माण, बोलियों का मिलकर भाषा बनना और समूह का बहिर्विवाही होना सम्मिलित है। द्वितीय चरण में राष्ट्र निर्माण (नेशन फारर्मेशन) नेशन बिल्डिंग के रूप में प्रकट होता है और इस चरण में आकर किसी राष्ट्र का सबसे प्रभावी गुणसूत्र प्रकट होने

लगता है, जैसे ग्रीक काल में कला और राजनीति तथा आत्मनिर्भर नहीं रह पाने के लक्षण। इसी तरह भारतीय सन्दर्भ में कहें तो अध्यात्मिकता और उस अध्यात्मिकता के प्राधिकार से वंचित रह गये समूहों की जागृति। यह प्रतिरोध और संविलयन का स्तर होता है और इसमें जो राष्ट्र अपनी हिफाजत अपनों से और दूसरों से करने में सफल रहे वही आज दुनिया में उपस्थित हैं। आधुनिक काल में जिस राष्ट्र-राज्य का और राष्ट्रवाद का उदय हुआ है वह उपरवर्णित राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के साथ-साथ नेशन बिल्डिंग की प्रक्रिया का नई सामाजिक-आर्थिकी में नवजागरण है। क्योंकि, आधुनिकता, ज्ञानोदय, मुद्रण पूँजीवाद, औद्योगिक क्रान्ति, परिवहन विकास आदि ने किसी नवीन राष्ट्रीयता को जन्म नहीं दिया है। वास्तविकता तो यह है कि आज की समस्त राष्ट्रीयतायें मध्यकाल तक बन चुकी थी।

**राष्ट्रवाद : राष्ट्रीयताओं का अन्तर्द्वन्द**

राष्ट्र का भौतिकपक्ष जातीय और आन्तरिक पक्ष चैतसिक होता है। प्राचीन राष्ट्र के भौतिक पक्ष को आधुनिक राज्य ने बदल डाला है किन्तु उसका चैतसिक पक्ष आज भी वही है। राष्ट्र के भौतिक पक्ष का उक्त बदलाव फ्रांस की राज्य क्रान्ति से प्रकट हुई जन-सम्प्रभुता की अवधारणा से गहरे स्तर तक प्रभावित हुई है। किन्तु यूरोप के अन्य राष्ट्रों में राष्ट्रवाद के उत्थान में नेपोलियन के दिग्विजियों की प्रतिक्रिया का भी योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस प्रक्रिया ने पहले एक राजवंश को दूसरे राजवंश के विरूद्ध खड़ा किया। परन्तु इन राजवंशों को यह समझने में देर नहीं लगी कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति से जिस जनसम्प्रभुता का प्रादुर्भाव हुआ है उसे अपने-अपने भू-क्षेत्र में दबाने से वे अपना ही नुकसान कर लेंगे। राष्ट्र और राष्ट्रवाद का आधुनिक सन्दर्भ अपने प्राचीन सन्दर्भ से चार अर्थों में भिन्न है। प्रथम, राष्ट्र बनने और उस राष्ट्र से लोगों के मनोवैज्ञानिक जुड़ाव का प्राचीन सन्दर्भ सूक्ष्म सामाजिक गतिकी का परिणाम है। जो धीरे-धीरे और स्वतः प्रेरित घटना है। यह प्रत्यक्ष संबंधों और अनुभव पर आधारित है। इसके विपरीत आधुनिक राष्ट्र और राष्ट्रवाद उन्हीं प्राचीन सन्दर्भों को वृहद सामाजिक गतिकी से परिचालन के परिणाम हैं। इसमें प्रत्यक्ष संबंधों और प्रत्यक्ष अनुभव के स्थान पर अवैयक्तिक संबंधों और परोक्ष अनुभव की भूमिका अधिक होती है। द्वितीय, राष्ट्र और राष्ट्रवाद के प्राचीन सन्दर्भों में राष्ट्रवाद का वाहक 'व्यक्ति' संबंधों की शृंखला का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि राष्ट्र और राष्ट्रवाद का आधुनिक सन्दर्भों में वाहक व्यक्ति अपने हित का प्रतिनिधित्व करता है। तृतीय, परम्परागत समाजों में राष्ट्रीय पहचान और जातीय पहचान धुले–मिले हुए थे। परन्तु, आधुनिक समाजों में जातीय पहचान और राष्ट्रीय पहचान के संकेतक अलग-अलग हो गये हैं। चतुर्थ, जातीय पहचान और राष्ट्रीय पहचान के संकेतक जब प्राचीन समाजों में धुले–मिले हुए थे तब व्यक्ति व्यवस्था के समक्ष तुलनात्मक रूप से कम अकेला था, परन्तु आधुनिक समाजों में जहाँ जातीय पहचान पर राष्ट्रीय पहचान को अधिक वरीयता दे दी गई है, व्यक्ति व्यवस्था के समक्ष अधिक अकेला हो गया है। इस सन्दर्भ में यह एक विचारणीय तथ्य है कि राष्ट्र के राज्य बनने में राष्ट्र का पराभव है और राज्य के राष्ट्र बनने में राज्य की सफलता है। प्रत्येक राज्य अपने प्रति राष्ट्र जैसी आस्था की नागरिकों से अपेक्षा करता है। परन्तु, यह अपेक्षा एक ऐसे काल में जब दुनिया के एक प्रतिशत लोगों को उपलब्ध धन सम्पदा के बराबर भी बाकी निन्यानबे प्रतिशत लोगों को सम्मिलित रूप से उपलब्ध नहीं है, एक दिवा स्वप्न की ही तरह है। राष्ट्र-राज्य की आधुनिक धारणा ने राष्ट्रीयता और नागरिकता को एक कर दिया है और प्रायः सभी राज्य बहुराष्ट्रीय राज्य बन गये हैं। ऐसे सभी बहुराष्ट्रीय राज्यों में राष्ट्रवाद स्थापित राज्य व्यवस्था के प्रति आस्था के रूप में जितना अभिव्यक्त होता है उतना विभिन्न राष्ट्रीयताओं के मध्य हम होने की भावना में अभिव्यक्त नहीं होता है। विभिन्न राष्ट्रीयताओं के द्वारा अपनी पृथक पहचान को बनाये रखने के लिए किये गये उपक्रमों को राष्ट्रवाद के प्रतिगामी विचार के रूप में देखा जाता है। विश्व के अब तक के इतिहास में राष्ट्रवाद ने धार्मिक पहचान को तिरोहित करने में सफलता नहीं प्राप्त किया है। धार्मिक पहचान

जब राष्ट्रवाद के आड़े आता है तब राष्ट्र और राष्ट्रीयता से जुड़ी भौगोलिक प्रतिबद्धता प्रायः टूट जाती है। भारत का विभाजन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारत के उत्तर-पूर्व में पृथकतावादी प्रवृत्तियों और खालिस्तान की माँग में भी यह तत्व काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। ऐसी प्रवृत्तियों को मात्र राष्ट्रवाद के आधार पर रोका नहीं जा सकता है। यदि ऐसी प्रवृत्तियों में अभिजन समूह की राष्ट्रीयता के सूत्र शेष समूह से बिल्कुल अलग हों और वह राष्ट्रीयता भू-क्षेत्रीय आधार पर आर्थिक रूप से अपनी उत्तरजीविता को कायम रखने में समर्थ हो तो राष्ट्र के विभाजन की संभावना अधिक होती है।

राष्ट्रीयता का नागरिकता में रूपान्तरण और एक लम्बे समय तक नागरिकता के अधिकारों से स्त्रियों को वंचित रखना राष्ट्रवाद को पितृसत्तात्मक चरित्र प्रदान करता है। आधुनिक समय में नागरिकता की नीति को दो तत्व प्रभावित करते हैं - रक्त का अधिकार (जस सेंगुनिस) और जमीन का अधिकार (जस सोली)। स्त्री जस सेंगुनिस और जस सोली के आधार पर नगारिक तो बन जाती थी परन्तु आधुनिक काल में उन्नीसवीं शताब्दी में आकर ही उसे नागरिक अधिकार प्राप्त हुआ। यह एक ऐसा समीकरण है, जिसके आधार पर विभिन्न वंचित समूहों के सन्दर्भ में राष्ट्रवाद को लेकर अनेक विमर्श विकसित हुए हैं। उन सभी का मूल स्वर एक ही है और वह यह है कि राष्ट्र जब राज्य के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, राज्य सेवा प्रदाता के रूप में प्रकट हो रहा है तब वह प्रत्येक समूह से एक ही जैसी आस्था की अपेक्षा कैसे कर सकता है? उसे स्वाभाविक तौर पर उस समूह से आस्था की अपेक्षा अधिक करनी चाहिये जिसको वह अधिक सुविधा प्रदान कर रहा है। दूसरी ओर जिनको राज्य के संरचनात्मक ढाँचे से अधिक लाभ मिल रहा है उनकी आक्षेप यह है कि उनके योगदान से ही वंचित समूहों के कल्याण की योजनायें संचालित हो रही हैं। आज के वैश्वीकरण के युग में यह भी एक तर्क चल पड़ा है कि जिनका राष्ट्र के विकास में योगदान नहीं है या अपेक्षाकृत कम है उनके लिए आबंटन अधिक क्यों हो रहा है? वास्तव में समूहों के ऐसे विरोधी दावे अन्तर-सामुदायिक दावे और अन्तः सामुदायिक दावे भी होते हैं, जो होते तो शासक वर्ग के विरूद्ध हैं किन्तु इससे राष्ट्र और राष्ट्रवाद भी कमजोर होता है। वर्तमान विश्व में राष्ट्र और राष्ट्रवाद का विमर्श इन्हीं चुनौतियों के मध्य स्थित है। फलतः यह नहीं कहा जा सकता है कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद का जो विमर्श आज हमारे समक्ष उपलब्ध है वह स्थायी और अंतिम है। इसमें नये अध्याय लिखे जाने अभी शेष हैं। परन्तु, राष्ट्रवाद का जो अध्याय अभी चल रहा है वह आधुनिकता और विवेकवाद का ऐसा पड़ाव है, जो आधुनिक काल में अपने द्वारा ही उत्पादित राष्ट्रवाद को कमजोर कर रहा है। यह दो तरीके से हो रहा है। प्रथम, अर्थव्यवस्थाओं का वैश्वीकृत युग में प्रवेश और संचार क्रान्ति के कारण राष्ट्रों की भू-अभेद्यता के स्वरूप का विच्छेदन। द्वितीय, राष्ट्रवाद का एक नैतिक चेतना के रूप में धर्मनिरपेक्षीकृत विवेकवाद के कारण पराभव। वर्तमान की इस स्थिति में राष्ट्र से लगाव आस्था का विषय (जो राष्ट्रवाद का प्रमुखतत्व है) न होकर सुरक्षा का विषय बन गया है।

विगत शताब्दी के उत्तरार्द्ध से दुनिया में राष्ट्रवाद का जो उभार दिखाई देता है वह राष्ट्र के प्रति आस्था के बजाय राष्ट्र से सुरक्षा की अपेक्षा से तुलनात्मक रूप से अधिक प्रेरित है। हमारा वर्तमान राष्ट्रवाद के संक्रमण का वर्तमान है। इसमें शासक वर्ग दूसरों से सुरक्षा का भय दिखाकर राष्ट्रवाद का राज्य के हित में प्रयोग करने में सफल होते दिखाई दे रहे हैं। किन्तु समूहों की सुरक्षा अब अवधारणात्मक रूप से ही नहीं बल्कि जमीनी हकीकत के तौर पर भी बदल चुकी है। अब भय, मुख, भ्रष्टाचार, संरचनात्मक हिंसा, पर्यावरण असंतुलन और असमान विकास के दुष्प्रभावों से सुरक्षा की आवश्यकता एक बड़ी चुनौती बनती जा रही है। ऐसे में राष्ट्रवाद को जीवनरक्त सुरक्षा के परम्परागत खतरों से ही प्राप्त नहीं होता रहेगा। बल्कि इसके लिए शासकवर्ग और अपराजेय हो चुकी पूँजीवाद को अपना चरित्र बदलना होगा। शासक वर्ग और पूँजीवाद को यदि भविष्य में राज्य बनते जा रहे राष्ट्र से राज्य के प्रति नागरिकों से राष्ट्र जैसी नैतिक आस्था की अपेक्षा है तब उन्हें नागरिकों

के मन में रहने वाले राष्ट्र के अनुरूप अपना रूपान्तरण करना होगा। राष्ट्र जब व्यक्ति के मन में होता है तब वह साझी विरासत के गौरवपूर्ण आख्यानों के प्रतीक के रूप में होता है। यह ऐसे प्रतीक होते हैं जिनमें सामूहिक हित की साधना के लिए व्यक्तिगत हित का परित्याग और सद्गुण के संदेश होते हैं। इन्हीं संदेशों के अनुरूप शासक वर्ग और पूँजीवाद को अपने में बदलाव लाने की जरूरत है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि आधुनिक लोकतन्त्रों में शासक वर्ग का चरित्र जनता के चरित्र की ही अभिव्यक्ति होती है। निश्चित ही यह एक ऐसी प्रस्थापना है जो सत्य है किन्तु इसको सत्य बनाने में आधुनिक पूँजीवाद और उसके दार्शनिक अधिष्ठान उदारवाद और इन दोनों के द्वारा निर्मित आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का ही योगदान है। परन्तु इन दोनों का विकास अब जब राष्ट्र की सीमा को कमजोर कर रहा है तब राष्ट्रवाद को फिर से विगत शताब्दी के चौथे दशक के सुरक्षा खतरों की ओर ले जाने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। यह वर्तमान राष्ट्रवाद का एक अन्तर्द्वन्द्व है और भारतवर्ष भी इससे अछूता नहीं है। रूस में लेनिन की मूर्ति को तोड़ा जाना और भारत में गाँधी की छवि को धूमिल किया जाना उपरी तौर पर एक ही जैसा दिखाई देता है। किन्तु यह दो अलग-अलग संकेत हैं और राष्ट्रवाद के दो अलग प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं। लेनिन वर्ग विभाजित व्यवस्था का नाश करके मानवतावाद स्थापित करना चाहते थे, यह राष्ट्रवाद से आगे का और राष्ट्रवाद से बड़ा लक्ष्य है। गाँधी मानवतावाद से वर्ग विभाजित समाज का रूपान्तरण करना चाहते थे यह मार्क्सवादी-मानववाद से कहीं बड़ा लक्ष्य है। लेनिन की प्रतिमा रुस में इसलिए टूटी कि उन्होंने हिंसा की विचारधारा में लोगों को शामिल करने के लिए राष्ट्र की धारणा को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया। गाँधी की प्रतिमा इसलिए टूटती है कि उन्होंने मानवता की रक्षा के लिए राष्ट्र के विभाजन पर भी हिंसा की वकालत नहीं की। परन्तु आज जब राष्ट्र की संक्रान्तिक सीमा रेखायें प्रत्येक राष्ट्र को आच्छादित करती हैं और प्रत्येक राष्ट्र से आच्छादित होती हैं तब हम राष्ट्रीय एकता के प्रतीक सरदार पटेल की ऊँची प्रतिमा बनाकर ही आश्वस्त नहीं हो सकते हैं। वे तो भौगौलिक एकता के प्रतीक थे। अब हमारे राष्ट्र की संक्रान्तिक सीमा रेखायें जब अत्यन्त विस्तृत हो रही हैं तब हमें पटेल की मूर्ति में गाँधी का मन भरना पड़ेगा। यही नहीं दुनिया में सबके अपने-अपने पटेल हैं परन्तु सभी पटेलों को भारत के गाँधी के मुखौटे की जरूरत पड़ती है। भारत का राष्ट्रवाद इस अर्थ में विशिष्ट है कि हमारे अपने पटेल गाँधी मार्गी थे।।

*राजनीतिशास्त्र विभाग*
*आर्य महिला पी.जी. कॉलेज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)*
*चेतगंज, वाराणसी 221002*

**सन्दर्भ -**

1. *मिश्र, विश्वनाथ, पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2019, पृ. 74-111*
2. *क्रेनमैन, ग्रेल्ड. मल्टीकल्चरल नेशनलिज्म, टोरंटाः यू.बी.सी. प्रेस, 2005, पृ. 11*
3. *जे.ए. हाल ''नेशनलिज्म क्लासिफाइड एण्ड एक्स्पलैंड'', डायडलस नवम्बर-3 1993, संस्क. 122 पृ.-1*
4. *बेजहॉट, वाल्टर फिजिक्स एंड पॉलिटिक्स, लन्दन : बेटोचे बुक्स, 1887, पृ. 20-21*
5. *स्मिथ ए डी -''नेशनलिज्म'', नई दिल्लीः एटलान्टिक पब्लिशर्स, 2005, पृ. 5*
6. *इस तरह के एक महत्वपूर्ण अध्ययन के लिए हग सेटन की किताब देखी जिसमे उन्होंने राज्य शक्ति, धर्म, भाषा, आर्थिक दबाव सहमती और असहमति आदि की विस्तार से चर्चा की है वाटसन, हग, सेटन. ऐन इंक्वारी एन टू द ओरिजिंस ऑफ नेशंस एंड पोलिटिक्स ऑफ नेशन्लिज्म, वोउल्डरः वेस्ट रिव्यु प्रेस, 1977, पृ. 10*
7. *जेफर्लोट, क्रिस्तोफी (सं.) पाकिस्तान :नेशनलिज्म विदाउट नेशन :नई दिल्ली :जेड बुक्स लिमिटेड, 2004 पृ. 7-50*

8. पाकिस्तान के सन्दर्भ में यह मान लेने पर कि यहाँ राष्ट्रवाद ने राष्ट्र को जन्म दिया एक बड़ी बाधा यह है कि वह राष्ट्रवाद भी सभी मुस्लिम लोगों को प्रभावित नहीं कर पाया। मुस्लिम समुदाय का ही एक उससे बड़ा हिस्सा भारत के राष्ट्रवाद से जुड़कर भारत में ही रह गया जितना कि पाकिस्तान गयाद्यद्यएक ही समुदाय जिनका धर्म एवं इतिहास भी एक ही है यहाँ दो राष्ट्र में बंट गएद्य एक ही समुदाय में दो अलग अलग तरह के राष्ट्रवाद की यह कहानी राष्ट्रवाद के बजाय काल्पनिक डर की कहानी अधिक है।
9. ब्रियुली, जे. नेशनलिज्म एंड द स्टेट मैनचेस्र यूनिवर्सिटी ऑफ मैनचेस्टर प्रेस 1982, पृ. 352
10. एलायसियस, जी नेशनलिज्म विदाउट ए नेशन इन इंडिया, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1998,पृ. 176
11. यहाँ इस मुद्दे पर भी विचार किया जाना आवश्यक है कि भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन पूरी तरह से आधुनिक मूल्यों के सहारे चलाया गया होता तो इसके क्या परिणाम होते? यह भी तो संभव था कि इससे समूह गतिशीलता तथा समूहों के विरोधी दावों के बीच टकराव भी तो बढ़ सकते थे और इससे हमारा आन्तरिक विभाजन भी बढ़ सकता था। उदाहरण के लिए यदि फ्रांसिसी क्रांति की तरह स्वतंत्रता, समानता और न्याय ही हमारे सबसे प्रमुख मार्गदर्शक होते तो भी अंग्रेजों के विरुद्ध जिस तरह इन्हें हथियार बनाया जा सकता था उसी तरह सामन्ती शोषण के खिलाफ भी बनाया जा सकता था।
12. हाब्सबाम, ई.जे. नेशंस एंड नेशनलिज्मस सिन्स 1780, नई दिल्ली : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990 पृ. 10
13. ग्रीनफिल्ड, लेह-नेशनलिज्मस एण्ड मॉडर्निटी, भाग- 63, अंक-1, 1996, सोशल रीसर्च पृ. 3-40
14. मिश्र, विशवनाथ, पृ. 1-29, वही
15. हाब्सबाम, ई.जे. पृ. 45
16. गवर्मेंटलिटी (शासकीयता) और राष्ट्रवाद का आपस में गहरा संबंध है/फूको अपनी अवधारणा में शक्ति के विभिन्न उपादानों की चर्चा और अनुशासन के तरकीबों का उल्लेख करते हुए इस अवधारणा का प्रयोग करते हैं। सीधे राष्ट्रवाद उनका विषय नहीं है। इस विषय पर अध्ययन के लिए देखें - डीन, मिचेल. गवर्मेंटलिटी नई दिल्ली : सेज, 2010, पृ. 24-30
17. स्मिथ ए.डी. ''एथनिक परसिसटेंस एण्ड नेशनल ट्रांस्फोर्मेशन'' द ब्रिटिश जनरल ऑफ सोशियोलॉजी, भाग- 35, अंक 3, 1984, पृ. 452-664
18. वही
19. आर्मस्ट्रांग, जे.ए. नेशंस बिफोर नेशनलिज्म, कैरोलिना, द यूनिवर्सिटी ऑफ कैरोलिना प्रेस, 1982
20. बार्थ, फ्रेडरिक. (सं.) एथनिक ग्रुप्स एंड बाउंडरीज, बोस्टन :लिटिल ब्राउन एण्ड कम्पनी, 1969 पृ. 17
21. यहाँ आर्मस्ट्रांग के विचारों को आधुनिकाता पूर्व के समाजों के सन्दर्भ में समझना चाहिए। विशेषकर मध्य यूरोप के इसाई एवं मुस्लिम समाजों के सन्दर्भ में जिनका वे अध्ययन कर रहे थे।
22. इस समीकरण के माध्यम से ठहरे हुए प्राचीन समाजिन के बर्हिर्वेशन को समझा जाना चाहिए। वस्तुतः स्वैच्छिक बर्हिर्वेशन और बाध्यतामूलक बहिर्वेशन में अन्तर किए बिना बहिर्वेशन को ठीक तरह से नहीं समझा जा सकता है। ठहरे हुए समाजों में पद और प्रतिष्ठा का इतना तीखा विभाजन नहीं होता है, जितना आज के समय में पाया जाता है। कई बार स्वैच्छिक बहिर्वेशन को स्वीकार करने वाला समूह भी कालान्तर में विकसित समूह को अपने हासिएकरण के लिए जिम्मेदार बताने लगता है।
23. क्रिस्तेवा, जूलिया नेशन्स विदाउट नेशनलिज्म न्यूयार्क कोलंबिया : यूनिवर्सिटी प्रेस 1993 पृ. 29-34
24. अतीत को भुलाने से राष्ट्रवाद की उत्पति होती है राष्ट्रवाद साथ रहने का प्रतिदिन का जनमत संग्रह है। रैनन के इस विचार को देखें https://www-humanityinaction-org/files/569&E-Renan&what is a nation-pdf 9 मई 2019 को देखा गया।
25. ब्रास, पॉल. आर. एथनिसिटी एंड नेशनलिज्मः थ्योरी एंड कम्प्रिजन, नई दिल्ली :सेज पब्लिकेशन्स, 1996 पृ. 23-24
26. हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की पुस्तक का नाम है। इस पुस्तक में हिन्दू को धर्म की जगह एक जीवन शैली के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विस्तार से समझने के लिए देखें - राधाकृष्णन,एस. हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, नई दिल्ली हार्पर कालिन्स पब्लिसर्श, 1993
27. गेलनर, अर्नेस्ट, नेशंस एण्ड नेशनलिज्म, ऑक्सफोर्डः बेसिल पब्लिशर्स, 1983, पृ. 57
28. मिश्र, विश्वनाथ भारती, राजनीति में क्षेत्रवाद और नृजातीयता, सागर विश्व विद्यालय प्रकाशन, 2006, पृ. 39-42
29. स्मिथ, ए.डी. नेशनलिज्म, पृ. 5, वही
30. स्मिथ, ए.डी. नेशनलिज्म, पृ. 9, वही

31. स्मिथ, ए.डी. नेशनलिज्म, पृ. 10, वही
32. गेलनर, अर्नेस्ट -थॉट एंड चेंज, लंदन :वेडीनफिल्ड एण्ड निकोल्सन, 1964, पृ. 169
33. स्मिथ, ए.डी. नेशनलिज्म, पृ. 9, वही
34. गेलनर, अर्नेस्ट -नेशंस एण्ड नेशनलिज्म, ऑक्सफोर्डः बेसिल पब्लिशर्स, 1983, पृ. 1
35. मिनोग, कैनेथ, गेलनर्स थ्यौरी आफ नेशनलिज्म : ए क्रिटिकल असिस्मेंट, लियोसी ए.एस. (सं) इंटरनेशनल इनसाक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज्म लंदन :टॉन्सएक्शन पब्लिशर्स, 2001, पृ. 107-109
36. एरिक्सन, टी. एच. ''नेशनलिज्म एण्ड द इन्टरनेट'', विली ऑन लाइन लाइब्रेरी, भाग- 13, अंक-1, 2007
37. अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की वह पहचान होती है जिसे वह अपने प्रयत्नों से हाशिल करता है। जैसे- शैक्षणिक पहचान। वर्ग एक अर्जित प्रस्थिति है। आधुनिक समाजों में अर्जित प्रस्थिति का महत्व अधिक होता है।
38. परम्परागत समाजों में प्रदत्त प्रस्थिति पहचान की महत्वपूर्ण घटक होती है। प्रदत्त प्रस्थिति वह पहचान है जो व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त होती है। जाति प्रदत्त प्रस्थिति का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।
39. एन्डरसन, बेनेडिक्ट इमेजिंड कम्युनिटीज : रिफ्लैक्शन्स ऑन ओरीजिन एंड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म, जयपुर रावत पब्लिकेशन, 2006, पृ. 1-2
40. हॉब्सबाम ई.जे. ''सम रीफ्लेक्शन्स ऑन द ब्रेकअप ऑफ ब्रिटेन'' न्यूलेफ्ट रीब्यू 1977, अंक- 105, पृ. 13
41. नेयर्न, टॉम. ''द मॉडर्न जेनस'' न्यूलेफ्ट रीब्यू 1975, अंक- 94 पृ. 3
42. एडरसन, बेनेडिक्ट इमेजिंड कम्युनिटीज : रिफ्लैक्शन्स ऑन ओरीजिन एंड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म. पृ. 6
43. वही
44. वही, पृ. 7
45. वही
46. वही, पृ. 5
47. वही
48. वही
49. चटर्जी, पार्थ. द नेशंस एण्ड इट्स प्रग्मेंट्स, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999, पृ. 3-5
50. राय, मनोज कुमार -हिन्स्वराज वाराणसी :लोकायत, 2015, पृ. 46-47
51. https : /www archive org /details /cu31924026460752 /page /n23 10 मई 2019 को देखा गया।
52. सम्पूर्ण भाषण का सन्दर्भगत पक्ष इस प्रकार है - मैं चाहूँगा कि आप अपनी दृष्टि उस समय तक नित्य ही एथेंस की महत्ता पर केन्द्रित रखें जब तक कि आप उसके प्रेम से परिपूर्ण न हो जायें। जब आप उसके गौरव को अपने हृदय में उतार लें तब आप विचार करें कि यह साम्राज्य उन व्यक्तियों ने अर्जित किया जा था जो अपने कर्तव्य से अवगत थे और जिनमें अपने कर्तव्यपालन का साहस था। जो संघर्ष की बेला में इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि कहीं एथेंस की मानहानि न होने पाये। यदि वे किसी कार्य में असफल होते थे तो अपने देश की गौरव पताका नहीं झुकने देते थे बल्कि स्वेच्छा से उसके चरणों पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा देते थे। सेबाइन,जे.एच. राजनीति दर्शन का इतिहास, हिंदी अनुवाद, (विश्वप्रकास) नई दिल्ली : एस. चन्द एंड कम्पनी, 1987, पृ. 11
53. बेंजामिन, वाल्टर एल्युमिनेशन्स लंदन : फोंटाना, 1973 पृ. 265
54. भारत में धार्मिक यात्राऐं राष्ट्रवाद की धारणा को विकसित करने के लिए एक महत्वपूर्ण आधार थे। इस विषय पर विस्तार से अध्ययन के लिए देखें- मुखर्जी, आर. के. हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, नई दिल्ली, एस. चन्द एण्ड कम्पनी 1957

# भारतीय प्रगतिशील वैचारिकता, भाषा, राष्ट्रीयता और इतिहास दृष्टि : राहुल सांकृत्यायन का संघर्ष

*हितेन्द्र पटेल*

राहुल सांस्कृत्यायन (1893-1962) की ख्याति इस रूप में सबसे अधिक है कि उन्होने हिन्दी प्रदेश में मार्क्सवाद को अपने साहित्य लेखन से लोकप्रिय बनाया और पाठकों को अपने अतीत से, उसकी बौद्धिक संपदा से और अपने इर्द-गिर्द सामंती-पूंजीवाद की जड़ता से परिचित करवाने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह काम उन्होंने दर्शन, साहित्य और इतिहास तीनों क्षेत्रों में किया। कहते हैं कि जगत को समझने का प्रयत्न दर्शन बुद्धि द्वारा, साहित्य भावना द्वारा और इतिहास अनुभव के उपलब्ध विवरण के आधार पर करता है। राहुल ने बुद्धि, भावना और अनुभव तीनों के क्षेत्र में काम करके ही संतोष नहीं किया। उनके जीवन का बड़ा उद्देश्य था इस ज्ञान को समाज को बेहतर बनाने के स्वप्न के साथ इसे जोड़कर देखना। राहुल सांकृत्यायन ने एक ही जीवन में सनातनी, आर्य (जिस दौर में वे बड़े हो रहे थे सनातनी और आर्य आपस में बुरी तरह से लड़ रहे थे), फिर बौद्ध, फिर मार्क्सवादी और अंत में स्वाधीन चेता भारतीय प्रगतिशील चेतना स्तर से विपुल लेखन इसी उद्देश्य से किया। इस क्रम में वे सिर्फ लेखक के रूप में नहीं एक चिंतक के रूप में भी उभरते हैं। हिन्दी के प्रति स्वाभिमान रखते हुए और अपनी वैचारिकता के प्रति विश्वास से भरे इस महान पंडित को पाठकों का पंडित के रूप में बहुत सम्मान मिला, और यह सम्मान कम नहीं हुआ है। आज़ाद भारत के चौदह वर्षो में राहुल सांकृत्यायन ने अपने विचारों का जो निचोड़ अपने जीवन के अंतिम दौर में प्रस्तुत किया। इस कार्य में उन्हें सांस्थानिक सहयोग नही मिल सका। भिन्न-भिन्न प्रकार की बौद्धिक प्रवृत्तियों का रचनात्मक संवाद राहुल के शेष दो दशकों के लेखन में इतने जटिल रूप में है कि उनकी बौद्धिक विरासत को समझने वालों के लिए एक चुनौती खड़ी हो जाती है। जिन तीन चिंतन दिशाओं में वे गए (जब-जब जिस ओर गए पूरे विश्वास के साथ गए) वहाँ संचित ज्ञान में से जो कुछ उन्हें उपयोगी लगा उसे उन्होने छोड़ा नही। इस कथन से कई लोग असहमत हो सकते हैं कि ''अपने जीवन में उन्होने अनेक राहें बदली, पर उनकी मंजिल हमेशा या तो हिन्दी रही या हिंदुस्तान की गरिमा'', लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वे हिन्दी के और भारतीय बौद्धिक परंपरा के प्रति बहुत सजग रहे।

राहुल की वैचारिक यात्रा चकित कर देने वाली है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने सनातनी, आर्यसमाजी, बौद्ध, मार्क्सवादी सबको मिलाकर एक प्रगतिशील भारतीय दृष्टि पैदा करने की कोशिश की है। इनमें से किसी धारा के लोगों में से एक का चुनाव करते तो वे उनके द्वारा आदर पाते लेकिन जोखिम लेते हुए वे अपनी राह पर ही चले। इस क्रम में वे इनमें से किसी के भी नही हैं और कोई भी उनको पूरा स्वीकार नही कर

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 39-56*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

पाता। उनके विराट रचनात्मक व्यक्तित्व के सम्यक विश्लेषण के लिए उसी तरह की चेष्टाओं की जरूरत है जैसी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए की जाती रही है। अधिकतर लोग उनके बारे में उनकी महान पांडित्य की, तिब्बत से प्राचीन बौद्ध धर्म ग्रन्थों को भारत लाकर चर्चा के क्षेत्र में योगदान की और उनके वोल्गा से गंगा की चर्चा करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। जरूरत है कि उनके वैचारिक अवदान का विश्लेषण करें, उसकी आलोचना करें और उनकी पीड़ा के बहाने हिन्दी के बौद्धिक की त्रासदी को भी समझें।

ऐसा क्यों है कि वे एक ही जीवन में इतनी दिशाओं की ओर गए? प्रारम्भिक जीवन के उनके संघर्षों की कथा के बारे में सब जानते हैं। इसलिए इस आलेख में बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख होने से ही बात शुरू करना उचित होगा। 1916 में बौद्ध धर्म की पुस्तकों के महत्त्व के प्रति एक बौद्ध विद्वान के सुझाव के कारण उन्मुख हुए । वे उस समय सनातन धर्म से आर्य धर्म की ओर बढ़ चले थे। पर उसी समय 1917 के रूसी क्रांति के बारे में भी वे उत्साह के साथ सोचने लगे थे। राहुल 1926 के बाद भदन्त आनंद कौशल्यायन की प्रेरणा से बौद्ध धर्म के प्रति प्रवृत्त हुए। 16 मई 1927 से 1 दिसंबर 1928 तक वे श्री लंका में रहे। इस दौरान वे एक समर्पित बौद्ध अध्येता थे और उन्होने बौद्ध धर्म की बौद्धिक विरासत के लिए महान कार्य किए। जब उन्होने अपने बौद्ध होने की घोषणा की उस समय भी उनको लगता था कि वे साम्यवाद के प्रति भी झुके हुए हैं। 1928 के दिसंबर में लौटने के बाद एक जगह उन्होने लिखा है कि वे अब आर्यसमाजी नही थे। उनके ही शब्दों में "उनका एक पाँव बौद्ध धर्म में था और दूसरा साम्यवाद में।"[2] अगले दस बारह वर्षों तक बौद्ध राहुल सांकृत्यायन (यह नाम उन्हें 1930 में मिला जब वे बौद्ध हुए ) खूब घूमे, प्राचीन दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह किया और प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा का गंभीर परिचय प्राप्त किया। अगले चरण में वे मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में ज़्यादा रहे और यह प्रभाव उन पर अंत तक बना रहा। हालांकि सांगठनिक रूप से साम्यवादी दलों से उनका जुड़ाव 1942 के बाद थोड़ा कम हुआ। उसके बाद वे रूस में अध्यापन हेतु गये और वहाँ से लौटने के बाद उनके विचारों और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एक अंतर था जिसके कारण उनका पार्टी से अलगाव हुआ। उनके जीवन के एक गंभीर अध्येता विष्णुचंद्र शर्मा ने लक्षित किया है कि 1939 तक राहुल जी की मानसिक प्रवृत्ति बुद्धि प्रधान थी। इसके बाद वे साधारण लोगों के बीच श्रद्धा-प्रधानता के तत्त्व पर ध्यान दे रहे थे।[3] पार्टी से अलग रहकर भी वे पार्टी के हित में ही सोचते रहे और साम्यवादी पार्टियों के आपसी मतभेदों से दुखी भी होते थे पर यह स्पष्ट है कि 1947 से 1956 के महत्त्वपूर्ण वर्षों में उनके चिंतन की भाव भूमि और पार्टी की नीतियों के बीच एक अंतर है। बाद में जब वे तकनीकी रूप से पार्टी से फिर से जुड़ गए थे भी वे अपने चिंतन को पार्टी से नियंत्रित समझते हों ऐसा मानना कठिन है।[4]

राहुल बड़ी उम्मीदें और योजनाएँ लेकर भारत लौटे अगस्त 1947 में भारत लौटे थे। इसके बाद से 1961 में कोलकाता में उनके स्मृति विलोप के बीच के चौदह पंद्रह सालों के उनके जीवन के बारे में अब तक चर्चा कम हुई है। इस दौर में ही राहुल ने सबसे अधिक लिखा है। इस दौर में 'परिपक्व राहुल सांकृत्यायन'[5] एक तरह से अपनी वैचारिक यात्रा का निचोड़ पेश करते हैं। संभवतः इस दौर के लेखन में वे किसी संगठन या विचारधारा के बारे में कम और अपनी वैचारिक दृष्टि के अनुसार अधिक लिखते हैं। स्वाधीन भारत में राहुल ने जो कुछ सोचा, लिखा और जीवन के जैसे उनके अनुभव हुए उसके बारे में चर्चा करने से वे भी कतराते हैं जो उनके पहले के कार्यों के लिए उनकी सराहना करते नही थकते। भाषा, राष्ट्रीयता, धर्म आदि विषयों पर वे अलग तरीके से सोचते हैं। जो उन्हें ठीक लगता है उसको वे कहते हैं और इसकी परवाह नहीं करते कि साम्यवादी दल, उस समय की सरकार और साहित्यिक संगठन से जुड़े प्रभावशाली लोग उनकी बातों को किस प्रकार लेंगे। राहुल सांकृत्यायन के बारे में, उनके बौद्धिक संघर्ष में हिन्दी जगत के बौद्धिक इतिहास की बहुत

सारी समस्याओं के बारे में विचार करने की गुंजाइश पैदा हो सकती है। अभी भी इतिहासकारों ने उनके जीवन में दर्शन, इतिहास और साहित्य की त्रिधारा में एक नये भारत के बनने के स्वप्न को समझने की ठीक से कोशिश नहीं की है। इस आलेख की परिधि में इस ओर जाना संभव नहीं है पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत के निर्माता कहे जाने वाले जवाहरलाल नेहरू के जन्म के चार साल बाद पैदा और दो साल पहले इस पृथ्वी से जाने वाले इस महापंडित के जीवन और इतिहास दृष्टि, उनके बौद्धिक विकास का नेहरू के साथ तुलनात्मक अध्ययन करे तो हो सकता है कि एक दूसरे प्रकार के वैकल्पिक भारत निर्माण का मानचित्र उभरे। इन दोनों के बीच भारत के अतीत, औपनिवेशिक युगीन साम्राज्यवाद विरोध और नये भारत के उनके स्वप्न के बीच की समानता और अंतर को देखना बहुत उपयोगी हो सकता है। इस आलेख में तीन विषयों धर्म, भाषा एवम् राष्ट्रीयता के कुछ प्रसंगों को उसके इतिहास के संदर्भ में रखकर राहुल सांकृत्यायन के बारे में टिप्पणी की गई है। साथ ही उनके लिए इतिहास की जरूरत और उसके बारे में सोचते हुए किस तरह एक बेहतर मानव भविष्य के स्वप्न को जोड़ा गया है उसके बारे में भी कुछ प्रसंगों की चर्चा की गई है।

राहुल के लिए इतिहास एक जरूरत को पूरा करने के लिए है। उन्होने कई बार यह कहा है कि उन्होने जीने के लिए उपन्यास 1938 में लिखने के बाद महसूस किया कि उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास लिखना चाहिए क्योंकि हिन्दी में ऐसे लेखकों का अभाव है जो इस काम को ठीक से कर सकें। भगवतशरण उपाध्याय की लिखी 1941-42 की कहानियों को पढ़ने के बाद उन्होने इसे देखा और अगर उपाध्याय इस तरह की पर्याप्त कहानियाँ लिखते तो राहुल इस ओर न जाते ऐसा खुद राहुल ने कहा है।[6] उनका उद्देश्य था ''अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति प्रेरणा पैदा करना।''[7] वे कहते हैं कि अगर यह उद्देश्य उनके सामने न रहता तो वे कहानी या उपन्यास नहीं लिखते। भगवतशरण उपाध्याय ने राहुल के इतिहास लेखन के बारे में बहुत सकारात्मक टिप्पणी की है। उन्हें लगता है कि ''महापंडित राहुल सांकृत्यायन की बहुमुखी प्रतिभा ने विविध दिशाओं में जो स्थायी उपलब्धियां की थी, उन सबके मूल में संभवतः इतिहास ही था। साहित्य के क्षेत्र में उनके जो भी प्रयत्न हुए, उनका अधिकांश इतिहास के आधार पर उठा। ...(राहुल की) प्राचीन की पकड़ इतनी सही, इतनी अनुसंधानशील और इतनी मौलिक थी कि जहां वह बीते संसार की काया सहज ही अंगांगों सहित सिरज देती थी, वहीं वह एक ऐसी दिशा की ओर भी संकेत कर देती थी, जिधर का मार्ग लोगों को जाना न था।... इस दिशा में अपने प्रयत्नों में वे प्रायः निर्मम हो उठे।, क्योंकि असत्य के वह शत्रु थे... पिछले युगों के भारतीय बौद्धिक नेताओं में एक प्रकार के असत्य का भी पोषण हुआ है, जिसके प्रभाव में वे ... अंधविश्वासों, प्रथाओं, असामाजिक संस्थाओं का समर्थन करते रहे हैं... राहुल जी ने मूल पर ही प्रहार किया है।''[8]

यह एक दिलचस्प शोध का विषय हो सकता है कि राहुल सांकृत्यायन ने अतीत को समझने के लिए किस-किस तरह से कोशिशें की। उनके लिए ऐतिहासिक स्रोतों की समझ इतिहासकारों की तरह संकीर्ण नही है और वे आमलोगों के प्रति विश्वास से भरकर अतीत चिंतन करते रहे और उन्हें कभी भी यह नही लगा कि मध्य वर्ग आम भारतीय लोगों से तत्वतः अधिक प्रगतिशील हैं। उनके पूरे साहित्य में और विशेषकर उनकी आत्मकथा और यात्रा-वृत्तान्तों में ऐसे अनेक सूत्र बिखरे पड़े हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अगर कोई ध्यान से उनको पढ़े तो ऐसी बहुत सारी बातें कोई जान सकता है जिसे उस समय और बाद में समाजविज्ञानियों ने महत्त्वपूर्ण पाया।[9] पहले सनातनी, फिर आर्यसमाजी और फिर बौद्ध के रूप में जो कुछ उन्होने अतीत में पाया उसे सुव्यवस्थित रूप में वे लिख नही पाए। जब वे इतिहास लिखने लगे तब तक उनके ऊपर साम्यवादी प्रभाव बढ़ने लगा था।[10] कुछ समय तक यह मार्क्सवादी दबाव ज्यादा रहा। लेकिन इस आलेख के लेखक के अनुसार आगे के दौर के हिन्दू, आर्यसमाजी प्रभावों को राहुल ने पूरी तरह नही छोड़ा। इस न छोड़ने

को कुछ लोग गलत तरीके से भी व्याख्यायित कर लेते हैं। हाल ही में राहुल पर अग्रेज़ी में प्रकाशित पुस्तक में उन्हें 'हिन्दी राष्ट्रवाद' के समर्थक के रूप में देखा गया है। कई विद्वानों ने उनके मध्य एशिया का इतिहास (दो खंडों में) को दूसरे उपलब्ध स्रोतो पर अत्यधिक निर्भर बताया है लेकिन उस पुस्तक को लिखने की प्रक्रिया पर कमला सांकृत्यायन के विवरण पर अगर ध्यान दिया जाए तो लगता है की इसके लिए भी राहुल जी ने बड़ी मेहनत की थी। अगर उन्हें समुचित सहयोग रूस में मिला होता तो वे और अधिक बेहतर प्रयास कर पाते।[11]

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चीजें उनके अतीत-चिंतन में बनी रही जिसको उसी रूप में लिख देने के कारण राहुल से उनके साम्यवादी मित्रों को भी दिक्कत हुई थी। कम से कम दो मुद्दे ऐसे हैं जिनपर वे अपने तरीके से सोचते रहे और तमाम दबावों के बावजूद उन्होने अपने मत को नही बदला। वे दो हैं भारतीय मुसलमान के भारतीयकरण और हिन्दी के मुद्दे। निश्चित रूप से राहुल सांप्रदायिक दृष्टि से बहुत ऊपर थे और इस्लाम और भारतीय मुसलमानों के भारतीयकरण के सवाल पर बेबाकी से व्यक्त उनके विचारों को ध्यान से पढ़ने के बाद यह कहना गलत ही होगा कि वे सांप्रदायिक सोच के व्यक्ति थे। वे उस समय के कई वामपंथी विचारों के लोगों की इस बात को नही मानते थे कि मुसलमानों की आलोचना न की जाए या इस्लाम के बारे में कुछ न कहा जाए क्योंकि इससे सांप्रदायिक सौहार्द पर खतरा पैदा होता है। लेकिन राहुल इसे नही मानते। जब वे रूस से भारत लौट रहे थे उस समय के बारे में उन्होने जो लिखा है उसको पढ़ने से उनके विचारों का पता चलता है।

हिन्दी के बारे में भी उनकी राय उस समय के साम्यवादियों से अलग थी। राहुल हिन्दी ही नही सभी भारतीय भाषाओं के अधिकार के प्रति सचेत थे और कही से भी हिन्दी के अंध समर्थक या उर्दू या अँग्रेज़ी विरोधी नहीं थे। वे अतीत चिंतन करते हुए उन दिशाओं में गए हैं जहां से हम अपने अतीत की इतिहासकारों से बेहतर व्याख्या कर सकते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में जाति (नेशन) और धर्म की जैसी व्याख्या राहुल के पास है उससे हम लाभान्वित हो सकते हैं। हिन्दी प्रदेश के बौद्धिक इतिहास के आधुनिक पर्व के इतिहास लेखन में भी उनकी दृष्टि से हमें मदद मिल सकती है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि राहुल सांकृत्यायन के बारे में बहुत कम अध्ययन के बावजूद उनके बारे में बड़े विद्वान भी कभी कभी बहुत चलताऊ किस्म की टिप्पणी करने में संकोच नही करते। एक ही उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होगा। समाजविज्ञान से जुड़े अंतराष्ट्रीय ख्याति के कई विद्वानों के सहयोग से एक पुस्तक का प्रकाशन हुआ है जिसे 'द आक्सफोर्ड इंडिया कंपेनियन' के रूप में दो वॉल्यूम में छापा गया है। इसका सम्पादन वीणा दास ने किया है। इस बहुपठित पुस्तक की भूमिका में प्रो. दास ने लिखा है - "… the engagement of sociology and social anthropology in the questioning of colonial representations of Indian polity and society was evident: moreover, social anthropologists such as N.K. Bose, and historians like Kosambi and Rahul Sankrityayan had worked in close collaboration with Gandhi and the national movement.[12] यह एक वक्तव्य है जिसमें एक तरह से राहुल को उस धारा के लिए कम करने वाला सिद्ध किया जा रहा है जिसके साथ राहुल के मतभेद थे। दिलचस्प है कि दो खंडों में इसके अलावा कही फिर राहुल के बारे में एक भी शब्द नही है। वीणा दास ने तो कम से कम उनका उल्लेख किया है, अधिकतर इतिहास और समाज विज्ञान के लोग तो उनकी चर्चा भी नही करते।

**राहुल जी के विचार, इतिहास के बाते में उनकी समझ और उनका संघर्ष**

राहुल की अतीत के बारे में दृष्टि बहुत साफ थे। वे अतीत के ज्ञान का सम्मान करते थे और उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नही करते थे। लेकिन वे अतीत से चिपके रहने के सख्त खिलाफ थे। जब वे कम्युनिस्ट नही हुए थे उस समय भी इलाहाबाद में जवाहरलाल नेहरू की उपस्थिति में 1937 में उन्होने

कहा ''ज़्यादातर पुरानी पोथियों में 75 प्रतिशत तो बेवकूफियां ही बेवकूफियां भरी पड़ी हैं। हाँ, कहीं कहीं अकल की बातें भी हैं।'' पंडितों की नगरी काशी के बारे में उनका मत कठोर है। वे लिखते हैं - ''इसमें संदेह है, कि ऐतिहासिक काल अथवा पिछली सात शताब्दियों में काशी ने कभी देश और राष्ट्र की तत्कालीन या भावी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर माथापच्ची की हो। काशी ने देश को हमेशा पीछे की तरफ खींचने की कोशिश की। एक से एक प्रतिगामी पंडित और परिब्राजकों को उसने प्रदान किया।''[13]

अगर हम राहुल के बारे में लिखे संस्मरणों को ध्यान से पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 1947 के बाद जब पार्टी से उनकी दूरी बढ़ गई थी और उन्होने अपने लेखन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया था उनके विचारों को लेकर विद्वानों की असुविधा बढ़ गई थी। संकेत तो स्पष्ट रूप से उनके चालीस के दशक के लेखन में भी हैं लेकिन यह पूरी तरह से स्पष्ट तब हुआ जब वे हिन्दी, इस्लाम, भारतीय इतिहास में लोक और बौद्धिक परम्पराओं, भारत के नवनिर्माण को लेकर बगैर शक्तिशाली राजनैतिक और अकादमिक संस्थानों की परवाह किए लिखने-बोलने लगे। दाम्पत्य जीवन में आने के बाद एक स्थायी पारिवारिक जीवन की जिम्मेदारियों को झेलते हुए राहुल के लिए परिस्थितियाँ कितनी दुरूह हो गई थी और उनका मुक़ाबला करते हुए उन्हें कितनी तकलीफें उठानी पड़ी इसके बारे में अलग से बातचीत हुई है। दुर्भाग्य से इस ओर सभी तरह की जानकारी होते हुए भी राहुल साहित्य से जुड़े लोगों ने और खुद उनके परिवार के लोगों ने चर्चा करना जरूरी नहीं समझा।[14]

राहुल जी के विचार धीरे धीरे इस प्रकार के हो गए थे कि तत्कालीन अकादमिक समूहों को उनकी बातों से बहुत असुविधा होने लगी थी। जब राहुल जी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय में डॉ. नगेन्द्र के विशेष आग्रह पर व्याख्यान के लिए जाना पड़ा। अध्यापक विजयेन्द्र स्नातक ने उनसे सिद्ध साहित्य पर बोलने का अनुरोध किया। उन्होने अपने भाषण में यह सिद्ध किया कि कण्णपा अपने युग के सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे। और भी इसी तरह की बातें बोले। स्नातक ने विनम्रता पूर्वक प्रतिवाद किया और उनसे कहा कि वे प्रमाण दें। इसपर राहुल जी ने यह कहा- ''मैं नहीं चाहता कि आप मेरी मान्यता को ग्रहण करें, किन्तु मैं इतना अवश्य चाहता हूँ कि आप इतिहास के पृष्ठ पलटें। अंग्रेजों द्वारा लिखा गया इतिहास हमारे देश का दूषित, त्रुटित और पक्षपात रंजित इतिहास है। मैं इस इतिहास पर सिद्ध साहित्य को नहीं परखता। क्या आप बता सकते हैं कि सिद्धों की विशाल परंपरा से कौन सा अंग्रेज़ इतिहासकार परिचित है? किसने पूर्व मध्ययुग पर प्रामाणिक दृष्टि से लिखा है। आप इन इतिहास ग्रन्थों को पढ़कर कण्णपा या किसी सिद्ध या नाथपंथी योगी का परिचय नहीं पा सकते क्योंकि इनकी दृष्टि सन-सम्वतों में सिमटी रह जाती है। मैं देखता हूँ कि गौतम बुद्ध के बाद देश में तीन-चार बार क्रांतियाँ हुई हैं। किन्तु किसी क्रांति को जनमानस की व्यापक क्रांति के रूप में हमारे इतिहास लेखकों ने अंकित नहीं किया। महेशों और नरेशों का इतिहास लिखने वाले क्या जानें कि जनमानस को जागृत करने वाले विलासी नरेश नहीं होते, साधु, महात्मा और सिद्ध होते हैं। जो राज्य सत्ता से कहीं अधिक प्रभाव जनता पर डालते हैं। आप लोग पहले इतिहास की दृष्टि को स्वच्छ करें इतिहास के पृष्ठों पर पड़ी धूल को साफ करें और तब इतिहास पढ़ने का उपक्रम करें। मैं सिद्धों और नाथों का समर्थक नहीं हूँ किन्तु इतिहास में उनके महत्त्व की कथाओं को पाकर यह कहने को बाध्य हुआ हूँ।''[15]

राहुल के साथ आज़ाद भारत में बौद्धिक परिवेश के साथ तादात्म बिठाना बहुत मुश्किल हुआ और उन्हें बहुत कठिनाई हुई इसकी चर्चा आगे भी हुई है, पर जो सबसे उद्वेलित करने वाले बात है कि अंत में वे बाध्य हुए श्रीलंका जाकर नौकरी करने को ताकि उन्हें 1500 रुपए माहवार मिल सके ताकि उनके बच्चों की शिक्षा दीक्षा ठीक से हो सके। श्री लंका में रहते हुए उनके बारे में लिखते हुए भदंत आनंद कौशल्यायन ने लिखा है ''राहुल जी की हस्ताक्षर सुपाठ्य नहीं रहे थे। उनके दिनो दिन बिगड़ने वाली स्वाक्षरी उनके बढ़ते हुए स्नायु

दौर्बल्य की सूचना दे रही थी। बहु-मूत्र का रोग। असन्तोषजनक भोजन। बच्चों और परिवार से दूर। किसी प्रकार का खास मनोविनोद नहीं। रात दिन लिखना पढ़ना। वही काम और वही आराम ! ...बाद में देखा कि कभी कभी किसी भी समय राहुलजी सोने लग गये थे। दिन में आठ और नौ बजे सोते पाये जाने लगे । ...राहुल जी का 'क्लास' में पढ़ाने जाना बंद कर दिया गया। ... उचित समझा गया कि राहुलजी जया-जेता के पास जाकर रहें क्योंकि उन दोनों बच्चों को बिना एक चिट्ठी लिखे हुए, रात को राहुलजी कभी सोते ही नहीं थे।... थोड़ी से चंगे होकर राहुलजी एक बार फिर सिंहल आए। न वे पढ़ा सकते थे औ न उन्हें किसी ने पढ़ाने के लिए कहा। उन्हें खाने पीने की सुविधा-असुविधा का ख्याल करके उन्हें उनके एक परम मित्र श्री एम के कापड़िया के यहाँ ही रखा गया।''[16]

उनकी पत्नी का यह कथन बहुत कष्टदायी है ''औघरदानी तो वे थे ही, इसलिए भी धन के प्रति उनकी आसक्ति नहीं थी। मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिए धन की भी आवश्यकता पड़ती है, इस सत्यता का बोध महापंडित को अपने जीवन के अंतिम वर्षों में ही हुआ।''[17] राहुल ने एक पत्र लिखा जिसमें उन्होने जलवायु प्रतिकूल होने के बावजूद वे सिंहल में ही रहना चाहते हैं क्योंकि भारत में रहने से उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। ''मैं अपने बच्चों के भविष्य को अंधकार में कैसे छोड़ दूँ ! मैंने ज़िंदगी-भर कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। अब भी ऐसा करना मुझे पसंद नहीं।''[18] पत्नी ने लिखा है ''जो जीव जीवन भर नहीं रोया, अनेक विपत्तियों का भी जिसने हँसते हँसते सामना किया, वही महापंडित अपने शेष जीवन के डेढ़ वर्ष प्रतिदिन रोते रहे, आँसू बहाते रहे।''

एक प्रश्न उठाया जाता है कि राहुल की इतिहास दृष्टि में एक समस्या है कि वे शोध नहीं करते थे और उनकी अधिकांश बातें वे अपने हिसाब से इस्तेमाल करते थे।[19] वे आधुनिक शोधार्थी की तरह हर तथ्य की वैसी जांच न कर पाते होंगे, पर उनको बहुत कुछ कह सकने की हड़बड़ी थी और वे जिस चीज़ से निर्देशित थे वह इतिहास के 'स्वीप ऑफ इमेजिनेशन' थी।[20] यह उनकी सीमा भी है और शक्ति भी। वे 'शुद्ध इतिहासकार' नहीं थे। राहुल अकादमिक विद्वानों की तरह अकादमिक जगत की पद्धतियों में ज़्यादा उलझे रहने के बजाए काम की बातें निकलते हुए सहज तरीके से निष्कर्ष निकाल लेते थे। वे सहज भाषा में लिखते थे। सबको उनकी बातें समझ में आती थीं।

पूंजीवाद के आगमन की बड़ी रोचक व्याख्या राहुल ने की है। वे मानते थे कि यूरोपीय समाज में राजा और पुरोहित ही सबकुछ थे। सारी शक्ति उन्हीं के हाथों में होती थी। बनिए बेचारे शक्ति से वंचित थे। अपने समाज में वे भले ही शक्ति पाने में असफल थे लेकिन सात समुंदर पार उनके शक्तिशाली होने को यूरोपीय समाज के शक्तिशाली वर्ग नहीं रोक सके। इसी क्रम में बनिया क्लर्क ने शौर्य दिखलाते हुए 1757 में बंगाल में अपना विजय अभियान शुरू किया। तीन वर्ष बाद ही यूरोप में पूंजीवाद शुरू हुआ। ये लोग बाज़ार बनाने लगे, उसको नियंत्रित करने लगे और धीरे धीरे इन लोगों ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया।

यूरोप में राष्ट्रीयता के विकास को वे फ्रांस में उठी राष्ट्रीयता की लहर के साथ जोड़कर देखते हैं। कैसे यह जर्मन जातियों में फेली मगियार सैनिकों की पवित्र रोमन साम्राज्य की ज़रूरत और फिर लुई कोसुथ (1802-1894) द्वारा आस्ट्रिया के निरंकुश शासन के खिलाफ आंदोलन के जरिए इस पर राहुल ने ध्यान दिया। कालांतर में जब हंगरी को आस्ट्रिया से जातीय अधिकार मिले, लेकिन तब उसने अपनी सहभागी जातियों सर्बियन, क्रोशियन, रूमानियन को जातीय अधिकार नहीं दिए। मगियर द्वारा अन्य जातियों की भाषा और उनकी जातीय पहचान को न स्वीकार करने को राहुल गलत मानते हैं। इस मामले में वे सी डी हजेन की 1937

में प्रकाशित पुस्तक को उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि ''हंगरी की इस नीति और हमारे यहाँ के कितने ही राष्ट्रीय नेताओं के विचारों में बहुत समानता है, और वह दूसरी अल्पमत जतियों को वही स्वायत्त अधिकार देने के लिए नहीं तैयार हैं , जिनके लिए वे पिछले पचास वर्षों से लड़ते आये हैं।''[21]

तुर्की में भी इसी तरह से जातीयताओं को दबाने की चेष्टा की गयी, पर यह संभव नहीं हो सका। वहाँ सभी जातियों- ईसाई, यूनानियों, तथा आर्मेनियनों, और मुसलमान अरबों को अधिकारों से वंचित रख कर उन सबक़ों तुर्क बनाने की कोशिश की गयी। राहुल उल्लेख करते हैं कि अदन में 30 हज़ार आर्मेनियन ईसाईयों को मार डाला गया, गैर मुस्लिम के धार्मिक अधिकारों को छीनने की कोशिश हुई और अल्पमत जातियों को व्यापार के क्षेत्र में मिटाने की कोशिश की गयी। मकदुनिया जैसी जगह में जहां मुसलमान कम थे वहाँ मुसलमानों को बहुमत में लाने के लिए दूसरी जगहों के मुसलमानों को लाकर बसाने की कोशिश की गयी। इस आधार पर राहुल जी कहते हैं कि हिन्दू बहुमत से यदि भारतीय मुसलमानों को खतरा मालूम होता है तो... उसे हम बिल्कुल निर्मूल नहीं कह सकते।''[22]

राहुल का प्रस्ताव है कि हर जाति को पूर्ण स्वतंत्रता हो और वहाँ के लोग ही चूंकि इस लड़ाई में शामिल होंगे किसी बाहरी या सामुदायिक आधार पर छद्म लड़ाई करना संभव न होगा। लोग अपने आर्थिक अधिकारों के लिए लड़ेंगे। कोई सांप्रदायिक फूट डालकर 'इस्लाम खतरे में' 'हिन्दू खतरे में' का झूठा नारा लगाकर आर्थिक समस्याओं को ढंकने की कोशिश नहीं कर पाएगा। भारत की हजारों समस्याओं की दवा के रूप में वे सुझाते हैं कि हमारी सरकार अपना पहला कर्तव्य समझे-सभी देशवासियों के खाने, कपड़े, मकान, दवा, शिक्षा आदि का प्रबंध करना। यह तभी संभव हो सकता है जब कि केवल जनता की आवश्यकता और लाभ के लिए उद्योग धंधे चलाये जाएँ।[23]

अखंड हिंदुस्तान के लिए एक देश की तरह एक जाति की जरूरत पर वे बल देते हैं। वे कहते हैं कि जब हमारे राष्ट्रीय नेतागण अपनी अपनी कायस्थ, राजपूत, ब्राह्मण जाति के बाहर शादी ब्याह के मामले में जाने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे अखंड भारत कैसे बन सकता है? वे हिन्दू धर्मांधता का विरोध करते हैं। अंबेडकर की नीतियों के बारे में उनकी सहमति नही है। वोल्गा से गंगा के सुमेर को याद करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अंबेडकर नीति को वे बहुत सार्थक नहीं मान पाते हैं। इस कहानी को अनुवाद करते समय छोड़ दिए जाने का यही कारण है।

हिन्दी उर्दू के झगड़े पर उनका मत है कि जो नेतागण इस झगड़े को खत्म करने की कोशिश कर रहे हैं वे उस समस्या को भली भांति समझते नहीं हैं। राहुल के अनुसार ये लोग 'बिच्छू का मंत्र न जाने, साँप के बिल में अंगुली डाले' की नीति पर चलने वाले हैं। हिन्दू उर्दू के झगड़े के बीच वे दो संस्कृतियों की टक्कर देखते हैं, जिसके कारण ही दोनों भाषाओं को दो भिन्न भिन्न रास्तो पर विकसित किया।

राहुल के अनुसार प्रगतिशील वही हो सकता है जो आज से बीस या पचास बरस पहले नहीं, दस और पाँच बरस पहले भी नहीं बल्कि आज इस वक्त जो कुछ भी मानवता का भंडार बना है, बन रहा है, उससे पूरे तौर से आगाही रखता है। ...प्रगतिशीलता का रास्ता ...गतिशील है। जहां चलनेवाला, उसका रास्ता और सारी परिस्थिति क्षण क्षण बदल रही है , वहाँ रहगीर का काम कितना कठिन हो जाता है इसे आसानी से समझा जा सकता है।

बदलते समय के साथ वे यथेष्ट रूप से लचीले भी होते थे। 1943 में यात्रा के दौरान राहुल को यह लगा कि ''सेठों के सामने अब राजा झूठे हैं। उनके खर्च बहुत बढ़ गए हैं, लेकिन आमदनी उतनी की उतनी ही है, और सेठों के लिए आमदनी की कोई सीमा नहीं।[24]

एक और दिलचस्प बात राहुल ने कही है उसी दौर में। वे लिखते हैं- ''आधुनिक शिक्षा ने जब वर्तमान शताब्दी के आरंभ में हमारे देश में कदम रखा, तो लोग धरम की ओर से कुछ उदासीन हो गए, लेकिन जब हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातकों ने काषायवस्त्र धारण कर लिया तो श्रद्धा दस गुने बल से लौट आई। मैंने देखा कितनी ही तरुण शिक्षिताएँ बड़ी श्रद्धा के साथ ...कुटियों की परिक्रमा कर रही थी।

राहुल ने अपने चालीस के दशक में लिखे कुछ लेखन में नये भारत के उनके स्वप्न को जिस रूप में रखा है उसकी चर्चा कम हुई है। इतनी कम चर्चा के बाद भी जब प्रतिष्ठित विद्वान भी उनके बारे में वक्तव्य दे देते हैं तो एक भ्रम बन जाता है।

वे यथेष्ट उदारता का परिचय भी देते थे। एकबार जब उनसे किसी ने पूछा कि आपने हिन्दी के लिए कम्युनिज़्म को भी छोड़ दिया तो राहुल ने संशोधन किया कि ''कम्युनिज़्म को हमने नहीं छोड़ा था, पार्टी से संबंध तोड़ा था।''[25] वे भावी कम्युनिस्ट क्रांति के प्रति आशावान थे। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के अनुसार'' भावी कम्युनिस्ट क्रांति में ...उनका अखंड विश्वास था ... कहा करते थे ''लाल भवानी की पूजा से ही देश के दुःख दूर होंगे।''[26]

**राहुल, अपभ्रंश और भारतीय साहित्य का आरम्भिक इतिहास (हिन्दी दोहा कोश का संदर्भ)**

राहुल जी ने सिद्ध करने की कोशिश की थी कि हिन्दी का प्रथम कवि सरहपाद (760ई.) एक यथार्थ-वादी क्रांतिकारी कवि था और हिन्दी और हिन्दुस्तान का भविष्य उज्ज्वल इसी परंपरा को आगे बढ़ाने से बन सकता है।[27] वे मानते थे कि मूलतः सिद्ध-सामंत युग (760 ई. से 1300 ई.) की भाषा और आज की भाषा मूलतः एक है।[28] इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि अपभ्रंश सुनकर किसी को लग सकता है कि यह कोई अलग भाषा है लेकिन इसका एक नाम है -देशी भाषा।[29] हिन्दी काव्य-धारा के बारे में यह उल्लेख किया जा सकता है कि इस किताब के बारे में पाठकों की प्रतिक्रिया के बारे में विशेष रूप से इच्छुक थे जब वे विदेश में थे।[30] एक तरह से इस विषय पर वे एक अरसे से सोच रहे थे और इस ओर उनका ध्यान तीस के दशक के शुरुआती दौर से ही था। उन्होने 1933 में बड़ौदा में इंडियन औरियंटल कान्फ्रेंस में कहा था कि ''चौरासी'' सिद्धों का काल हिन्दी साहित्य का आरंभ काल है, जो कि तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर निश्चित है। ...सिद्धों की कविता का प्रचार ही पीछे कबीर, नानक, दादू आदि संतों के वचन-प्रचार के रूप में परिणित हो गया। ... और परंपरा बढ़ चली।[31] 1954 में इस थीसिस को उन्होने अपनी ओर से प्रामाणिक तौर पर दोहा कोश से पेश किया। कमला सांकृत्यायन ने इससे जुड़े संदर्भ के बारे में अपने संस्मरण में लिखा है ''किसी ग्रंथ को लिखने के लिए वे पहले से ही योजनाएँ नहीं बनाते थे। मन में जो विचार आये उन्हीं को तुरंत लेखनीबद्ध करना शुरू कर देते थे। मुझे एक दिन अपने पुस्तकालय में प्राचीन तलपत्र के कुछ पन्ने मिले। मैंने वे पन्ने पंडितजी को दिखलाये तो यह मालूम हुआ कि ये 8वीं सदी के सिद्ध कवि सरहपाद के दोहे के पृष्ठ हैं जिन्हें पंडितजी तिब्बत से लाकर भूल चुके थे। यह 1954-55 की बात है.... तीन महीने के कठिन परिश्रम से 'दोहाकोश' नामक विशाल ग्रंथ तैयार करने के बाद ही आराम किया। इस 'दोहाकोश' पर वे किसी पुरस्कार को पाने की आशा भी रखते थे, परन्तु लोगों का ध्यान इस ओर नहीं गया।''[32] प्रतीत होता है कि राहुल के लिए यह एक तय बात थी कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अपभ्रंश के इतिहास के साथ ही शुरू हो गया था।

'दोहा कोश' की भूमिका में शिवपूजन सहाय ने लिखा है ''साहित्यिक गवेषणा के क्षेत्र में उनके अनुसन्धानों ने जो प्रकाश फैलाया है उससे युगों का घनीभूत अंधकार तिरोहित हुआ है। ... श्री राहुल जी की तरह 'मिशनरी स्पिरिट' से कम करने वाले यदि और भी दो चार व्यक्ति हिन्दी में होते, तो साहित्यिक शोध के क्षेत्र में आज अनेक विस्मयजनक कार्य हुए रहते। ... राहुलजी को सच्चे अनुयायी रूप से अभी तक निष्ठावान सहायक नहीं मिले हैं।''[33]

रामचंद्र शुक्ल ने सिद्ध और योगियों की रचनाओं को 'साहित्य' न मानते हुए लिखा है कि यह सांप्रदायिक (किसी संप्रदाय के लिए) शिक्षा मात्र है। वे कहते हैं कि "चौरासी सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। ... जो शास्त्रज्ञान सम्पन्न न थे , जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था।" इस दृष्टि की आलोचना करते हुए नामवर सिंह ने लक्षित किया है कि यहाँ साहित्य की कसौटी का आधार सामाजिक और सांस्कृतिक है। जो "सुसंस्कृत" है उसकी गाली भी साहित्यिक है, लेकिन जो "असंस्कृत" है उनकी डांट फटकार भी असाहित्यिक है।[34]

इस विषय में विस्तार में जाने का अवसर यहाँ नहीं है, लेकिन राहुल क्या कहना चाहते थे उसके बारे में सामान्य पाठकों को जरूर जानना चाहिए। राहुल ने 'दोहा-कोश' को संपादित 1954 में किया और वे इस किताब के बारे में पाठकों की प्रतिक्रिया के बारे में विशेष रूप से इच्छुक थे जब वे विदेश में थे।[35] इस पुस्तक में राहुल की मुख्य स्थापनाओं को देखना चाहिए। भाषा की दृष्टि से छांदस (वैदिक भाषा) के बाद ईसा पूर्व पाँचवीं छठी सदी में भाषा ने नया रूप लिया जिसे उन्होने जनपदीय पालियाँ कहा। ईस्वी सन के आरम्भ के आसपास प्राकृत अस्तित्व में आयी जो ईसा की पाँचवी सदी तक प्रचलित रही। इसके बाद भाषा विज्ञान की दृष्टि से एक गुणात्मक परिवर्तन हुआ। छांदस, पाली और प्राकृत में एक विशेषता बनी रही जिसे भाषाविद 'श्लिष्ट' ('सिंथेटिक') रूप कहते हैं। किन्तु प्राकृत के बाद जो भाषा आई उसमें श्लिष्ट की जगह अश्लिष्ट रूप आया जिसका उल्लेख हर्ष के समकालीन वाण के हर्ष चरित में वाण के कवि मित्र शान के उल्लेख के रूप में मिलता है, जिसे भाषा कहकर पुकारा गया। यह जो भाषा है यह अपभ्रंश है (हालांकि यह नाम बाद में मिला) जो संस्कृत पाली-प्राकृत के श्लिष्ट-भाषा-कुल से उत्पन्न, पर अश्लिष्ट होने से एक नए प्रकार की भाषा है। यह नई भाषा तीनों भाषाओं से दूर तथा हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं की माता-मातामही है और उसी प्रकृति की भाषा है। इसमें दोहा, चौपाई, पद्धरी के नये छंद उसी समय आते हैं। मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं राजस्थानी, मालवी, बुन्देली, हरियानी, कौरवी (मूल हिन्दी) पहाड़ी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, असमिया, बंगला, उडिया सभी भाषाओं के क्षेत्र में अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई है, उसको अपना समझा गया। इसी के आधार पर राहुल ने माना कि यह कहना ठीक नहीं है कि आधुनिक भारतीय भाषाएँ सीधे संस्कृत से निकली हैं। राहुल की स्थापना है कि छठी शताब्दी में यह नई भाषा बनी। वे मानते हैं कि इंसान से लेकर सरहपाद के बीच और भी अपभ्रंश के कवि रहे होंगे पर उनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। सरहपाद राज्ञी अंचल (जो राहुल के हिसाब से भागलपुर और पौंद्र-वरद्धन उत्तरी बंगाल) में जन्मे थे। उनकी मृत्यु के बारे में राहुल ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर कहा है उनकी मृत्यु 780 के करीब हो चुकी थी। शवरपा उनके प्रधान शिष्य हुए। उनके अन्य शिष्यों में जोगी, नागार्जुन और सर्वभक्ष भी थे। उनके अनुयायी आज भी तिब्बत में भारी संख्या में मौजूद हैं।

अगर हम राहुल की साहित्य के इतिहास को देखने की दृष्टि पर गौर करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोक की शास्त्रों द्वारा उपेक्षा का विरोध करते हैं और इस ज्ञान परंपरा की राजनीति और वर्चस्व के लिए चल रही लड़ाई के प्रति बहुत सचेत हैं। इस क्रम में वे तमाम उन प्रसंगों, व्यक्तित्वों के बारे में कभी तथ्यों और कभी अपने अनुमान के आधार पर वैकल्पिक दृष्टि के लिए सामग्री जुटाते हैं। दुर्भाग्य से उनको संस्थानिक सहयोग बहुत कम मिल सके। वे चाहते थे कि उन्होने जो सामग्री जुटाई थी उसपर काम हो और उसका संरक्षण और अनुवाद हो सके। कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने कुछ कोशिशें की लेकिन वे पर्याप्त सिद्ध न हो सकी।[36] राहुल सांकृत्यायन के अनुसन्धानों का किस तरह से प्रभाव रहा है इसको समझने के लिए शिवपूजन सहाय द्वारा हिन्दी साहित्य और बिहार के प्रथम खंड को पलटना ही पर्याप्त है। जिन संतों के बारे में यशस्वी

हिन्दी संपादक ने सूचनाएँ इकट्ठा की हैं उनमें से बहुतों के बारे में राहुल के अनुसंधान के कारण ही जानकारी मिल सकी है। दुर्भाग्य से राहुल ने जो भारतीय साहित्य के बारे में दृष्टि तैयार की थी और जिसके आधार पर भारतीय साहित्य का इतिहास कई शताब्दी पीछे से शुरू होती उसको अकादमिक जगत में पर्याप्त गंभीरता से नहीं लिया गया।

हो सकता है कि इसको मानने में साहित्य-इतिहास के विद्वानों को असुविधा हो पर क्या यह कहना अनुपयुक्त होगा कि हिन्दी भाषा के इतिहास में राहुल के इस मत के रूप में विश्वविद्यालय में पढ़ाया जाए? जिस आधार पर आचार्य शुक्ल ने इसे नकारा है उसकी जो आलोचना नामवर सिंह ने की है वह उचित ही प्रतीत होती है।

**राहुल, जाति (नेशन), भाषा और धर्म**

राहुल के लिए किसी आदमी की जाति पहचानने के लिए सबसे बड़ा चिन्ह ''पक्का चिन्ह'' - है उसकी भाषा।[37] इसके बाद वे जाति की पुष्टि के लिए जिस कारक का ज़िक्र करते हैं वह है धर्म । संस्कृति को वह भाषा, कला और धर्म की सम्मिलित उपज मानते थे।[38] वे इसे गलत मानते हैं कि जातियों का ज़िक्र हो और धर्म को छोड़ दिया जाए। वे उन लोगों को जो धर्म को जातीयता में विशेष स्थान नहीं देना चाहते उनको राहुल ऐसे लोग मानते हैं जिनकी निगाह वर्तमान को नहीं देखती। वे स्पष्ट लिखते हैं ''जिस देश में अपनी भाषा, साहित्य, कला के बराबर या उससे भी अधिक जनता का दृढ़ आग्रह किसी धर्म के बारे में मिलता हो, और जब तक वह जनता उसके लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिए तैयार हो; वहाँ हम धर्म से आँख नहीं मूँद सकते...जब तक मजहब से प्रभावित होकर कोई जाति उसी के ऊपर अपने अलग व्यक्तित्व को कायम करने के लिए डटी हुई है, तब तक भूत में यह मजहब नहीं था, या भविष्य में नहीं रहेगा, इस बात को कहकर उस विचार को हटाया नहीं जा सकता और न हम वर्तमान की समस्या को हल कर सकते हैं।''[39]

भारत के संदर्भ में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ''हमें यह मानने में कोई उज्र हो ही नहीं सकता कि हमारे देश के मुसलमान अपनी जातीयता में मजहब को बहुत स्थान देते हैं।''[40] एक बार राहुल से पूछा गया कि अगर बौद्ध धर्म और कम्युनिज़्म में एक को चुनना पड़े तो किसे चुनेंगे तो उन्होने कहा कि वे कम्युनिज़्म को चुनेंगे क्योंकि इसमें बौद्धों की सामाजिक समानता निहित है। प्रश्नकर्ता ने जब यह कहा कि यह समानता तो इस्लाम में भी है तो राहुल ने जो कहा वह ध्यान देने योग्य है। उन्होने कहा ''इस्लाम की समानता और बौद्धों की समानता में बहुत अंतर है। इस्लाम में मजहबी समानता है। हरेक मुसलमान धर्म-क्षेत्र में समान समझा जाता है, लेकिन बौद्ध धर्म में मानवमात्र समान है यही क्यों जीवमात्र समान है। इस मौलिक भेद के कारण एक धर्म युक्तियों, अनुरोध, स्नेह, बंधुत्व, त्याग, सहिष्णुता से फैला और दूसरा तलवारों की धार पर। वैसे अनेक मुसलमान संतों ने सहिष्णुता और मानव समानता का प्रचार भी किया पर बहुत कम।''[41]

राहुल 15 अगस्त 1947 को भारत लौटते हुए जहाज पर थे उन्होने देखा कि स्वाधीन होने की खुशी में भारत और पाकिस्तान के लिए अलग अलग झंडे फराए गए और एक के लिए जन गण मन और दूसरे के लिए 'पाकिस्तान हमारा' गाया गया। इसपर राहुल की टिप्पणी है कि इकबाल ने जिन्होने पाकिस्तान का राष्ट्रीय गान लिखा उन्होने लिखा था जिसमें ये पंक्तियाँ थी चीन और अरब हमारा, सारा जहां हमारा ... तलवार के साये में हम पाले हैं...। इसके गाने के बाद नारा दिया गया अल्लाह ओ अकबर ! राहुल ने लिखा है कि ये जानते नहीं कि जिहाद का समय बीत चुका है और विज्ञान का युग आ गया है। ये समझते हैं कि इस्लामी छूरेबाजी के बल पर इन्होने पाकिस्तान कायम किया है। उनको यह नहीं मालूम कि अंग्रेजों ने अशगुन पैदा करने के लिए पाकिस्तान को बनाया।[42] इसके अतिरिक्त भी बहुत सारे प्रसंग हैं जिसमें उन्होने इस्लाम और

मुसलमानों के बारे में अपनी भावना को प्रकट करने में संकोच नहीं किया। एक जगह उन्होने लिखा है ''इस्लाम में मुझे यदि कोई चीज बुरी लगती है, तो वह है स्थानीय भाषा और संस्कृति के प्रति अवहेलना और विद्रोह का भाव, और जहां यह बात नहीं रहती वहाँ उसके ऐतिहासिक महत्त्व का मैं बहुत प्रशंसक हो जाता हूँ।''[43]

राहुल की कम से कम दो पुस्तकों में भाषा और इस्लाम के प्रश्न पर इस प्रकार के कथन मिलते हैं वे किसी कम्युनिस्ट के कम और किसी भारतीयता (गुणाकार मुले के अनुसार हिन्दुत्व वाली भारतीयता नही) के पक्षधर के अधिक प्रतीत होती हैं। युधिष्ठिर नमक पात्र के माध्यम से राहुल की पुस्तक आज की राजनीति में कहा गया है ''इतिहास बतलाता है कि धर्म के नाम पर इस्लामी मूलकों को एक राष्ट्र के रूप में कभी परिणत नहीं किया जा सका... इस्लाम स्वतंत्र जातियों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठाकर जितना आगे बढ़ने के अवसर था उसकी धर्मान्धता ने उन्हें वैसा नहीं करने दिया। ... कितने हिन्दू अब भी पाकिस्तान को बड़े भय की दृष्टि से देखते हैं, इनको मालूम होता है, कि मुसलमान बहुत लड़ाके हैं, और उनकी पीठ पर मिश्र और तुर्की तक के सारे इस्लामी राज्य हैं।'' युधिष्ठिर को राहुल के विचार का प्रतिनिधित्व करने वाला एक तरह से माना जा सकता है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि युधिष्ठिर को राहुल ने बहुत ही संतुलित व्यक्ति के रूप में देखा है। इस पात्र का परिचय राहुल ने इस रूप में दिया है ''शिक्षा में वे किसी से पीछे नहीं हैं।, साथ ही देशाटन ने उनके दृष्टिकोण को और भी विशाल बना दिया है। सिर्फ आयु के कारण ही दूसरे पंचों ने उन्हें अपना प्रधान या सरपंच नहीं बनाया, बल्कि उनमें सरपंच होने के गुण भी हैं। वे सबसे अधिक शांत हैं।'' महीप जो इस उपन्यास का ऐसा पात्र है जिसमें राहुल के विचार को सबसे अधिक स्पष्टता से लक्षित किया जा सकता है उसके व्यक्त विचारों में भी राहुल के इस्लाम के इतिहास के प्रति राहुल के दृष्टिकोण की झलक मिलती है। महीप कहता है ''इस्लामी जातियाँ अपनी कट्टरता पर गर्व करती हैं, किन्तु उसके कारण उन्हें कूप-मंडूकता और पिछड़ेपन के सिवा कुछ हाथ नहीं आया।'' युधिष्ठिर से जब पूछा जाता है कि फिर इस्लाम ने सफलता कैसे प्राप्त की तो उसका उत्तर है ''इस्लाम की सफलता किसी उच्च्य दार्शनिक विचार, महान सदाचार या भव्य आदर्शवाद के कारण नह हुई है। आप कुरान को उठाकर किसी धर्म के प्रमुख ग्रंथ से मिला के देख लीजिए, वह हर तरह से बहुत निम्न कोटि का जँचेगा। ...(इस्लाम की) दूसरी सफलता की कुंजी थी : जैसे भी हो स्त्रियों को रखके उससे औलाद को पैदा करके बढ़ाना। धर्म प्रचार का इस अनूठे ढंग को आप किसी धर्म के लिए शोभा की बात तो नहीं कह सकते।... एक सांप्रदायिकता दूसरी सांप्रदायिकता को पैदा करती है। मुसलमान इस्लाम को मानें, इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु यदि वह वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति में अपने को विदेशी रखना चाहते हैं, तो समझ लें, यह उनके लिए आफत की चीज है।'' कुछ इसी तरह के भाव राहुल की एक अन्य प्रति भागो नहीं दुनिया को बदलो के सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र, जिसके कथन में लेखक के अपने भाव ही व्यक्त हुए हैं, भैया ने भी व्यक्त किए हैं ''मुसलमानों को वही बोली बानी, वही पर-पोसाक, वही खान-पान अपनाना होगा, जो कि हिंदुओं का है। बिलाइत में ईसाई रहते हैं, यहूदी भी रहते हैं, लेकिन उनको देख के कोई नहीं कह सकता, कि वह दो तीन धर्म को मानते हैं।''[44]

साथ ही, यह उनके लिए स्पष्ट है कि ''एक मजहब होने पर भी यदि भाषा भिन्न भिन्न हुई तो अलग जाति का सवाल उठे बिना नहीं रहेगा। वे 1944 में कहते हैं कि सारे पाकिस्तानी (इस्लाम के आधार पर एक हो जाएँ अगर) एक जाति के नहीं हो जाएंगे, भाषा का सवाल वहाँ तीव्र उठेगा। यह कम उल्लेखित है कि राहुल ने 1944 में कहा था कि ''पूर्व बंगाल -जो कि पाकिस्तान का दूसरा टुकड़ा होगा-भी अपनी समुन्नत मातृभाषा को छोड़कर उर्दू को अपनायेगा इसकी आशा नहीं रखनी चाहिए।''[45] इसी आधार पर वे कहते हैं कि ''पाकिस्तान कभी एक जातीय देश नहीं रहेगा।'' राहुल की यह धारणा है कि जातीयता के प्रश्न पर व्यावहारिक रूप से

विचार करते वक्त धर्म से भी ज़्यादा हमें भाषा को प्रधानता देनी होगी। पाकिस्तान के बारे में वे लिखते हैं कि ''पश्चिमी खंड में ही एक नहीं ग्यारह जातियाँ हैं जिनकी भाषाएँ हैं सिन्धी, बलोची, बहू, मुल्तानी, पश्चिमी पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, दरदी, बलती, हुञ्जा, और पूरब में पूरबी बंगाल की अपनी एक जीवित भाषा है। इस प्रकार पाकिस्तान ग्यारह जातियों का एक जाति संघ होगा।''[46]

भाषा के संबंध में राहुल जी की इस बात पर गौर करना ज़रूरी है कि कुरु जनपद (मेरठ कमिश्नरी, अलीगढ़ जिला छोड़कर) की एक भाषा अब सारे उत्तरी भारत के अनेकों पुराने जनपदों की शिक्षा का माध्यम हो गई है, और उसे ही हम मातृभाषा का स्थान दिलाना चाहते हैं अर्थात ब्रज, बुन्देली, अवधी, बनारसी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, छत्तीसगढ़ी भाषाओं को मातृभाषा से खारिज कराना चाहते हैं। प्राकृत युग में भी मगही, सौरसेनी, आदि भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गयी है और अब हम यदि उससे उल्टा करना चाहते हैं, तो न यह उचित है और न यह संभव है। इन लोक भाषाओं की जड़ उससे कहीं दूर तक गई है, जितना कि हम समझते हैं।''[47] वे इतिहास के इस अनुभव की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं कि बुद्ध के पहले जनपद युग में हर एक जनपद (कुरु, पांचाल, कोसल, काशी, मगध) का व्यक्तित्व अपनी भाषा पर ही आधारित था और उनकी एक स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता भी थी। भाषा के अंतर के कारण दो जनपद एक साथ आने और मिल जाने के लिए तैयार नहीं थे। कन्नौज के आधिपत्य के दौर में विभिन्न जातियों को एक साथ जोड़कर कन्नौजिया की जातीय भावना का प्रसार भी आखिरकार सफल न हो सका। पूरे दौर में एक भाषा को लादने का प्रयत्न भी नहीं किया गया। एक 'अमातृभाषा' संस्कृत को भाषा ज़रूर स्वीकार किया गया। राहुल के अनुसार सारे भारत में भारत की जातियाँ इस रूप में बाँट कर देखी जा सकती हैं –

**बिहार**

1. मल्ल (भोजपुरी भाषा-भाषी) - चंपारण, सारण, शाहबाद (युक्तप्रांत में गोरखपुर की देवरिया तहसील, गोरखपुर, बलिया, आजमगढ़ और गाजीपुर जिलों के भाग)
2. वज्जी (पश्चिमी मुझफ्फरपुर जिला)
3. विदेह (मैथिली) – दरभंगा जिला
4. अंग (छिकाछि की भाषा ) भागलपुर, मुंगेर, और पूर्णिया के कुछ भाग
5. मगध, पटना, गया, तथा जजारीबाग, मुंगेर जिलों के कुछ भाग
6. मुंडा (छोटनागपुर)
7. ओरांव (छोटनागपुर)
8. हो (छोटनागपुर )
9. संथाल (संथाल परगना)
10. राढ़ (पश्चिमी बंगा ) - मनभूम, सिंहभूम

दूसरे प्रान्तों के प्रजातन्त्र का नाम उन्होने इस तरह गिनवाए हैं –

- युक्त प्रांत मल्ल (पहले ही उल्लेख किया जा चुका है)
- काशी, दक्षिणी अवध, उत्तरी अवध, उत्तरी ब्रज, पश्चिमी ब्रज, पूवह्न कुरु (खड़ी बोली), बुंदेलखंड, कूर्माञ्चल (पूर्वी पहाड़ी)
- मध्य-प्रांत- छेदी (जबलपुरी), दक्षिणी कोशल (छत्तीसगढ़ी), गोंड, नीमाड, मालव, बघेलखंड, उत्तर महाराष्ट्र, बुंदेलखण्ड
- राजपूताना- मेवाड़, मारवाड़, मेरवाड़

- देहली- पश्चिम कुरु (हरियाणी)
- पंजाब - पश्चिमी कुरु, पूर्वी पंजाब, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी हिमालय (पश्चिमी पहाड़ी), कनौर, स्फिती, लाहुल
- कश्मीर - जम्मू, लद्दाख, बाल्तिस्तान, दरदस्तान, हुंजा, कश्मीर
- सीमाप्रान्त - पश्तो
- बलोचिस्तान - बलोचिस्तान, बहू
- सिंध - सिंध
- बंबई - कच्छ , सौराष्ट्र (कठियावाड़ी), गुजरात, दक्षिणी महाराष्ट्र , कोंकण, कर्नाटक, डाकिनी भाषा (बिखरे)
- मद्रास-कर्नाटक - तुलू, कुर्ग, केरल, तमिलनाड, आंध्र
- ओड़ीसा - उत्कल
- बंगाल - राढ़ (पश्चिम बंग), मध्य-बंग, पूर्व बंग, चट्टग्राम, लेपचा, गोर्खा, शर्बा (तीनों को एक साथ रखा है ), कोच
- आसाम- पूर्व बंग, आसाम, नागा, गारो, ख़ासी, जयंतिया, मनीपुर, मिस्त्री
- भूटान
- नेपाल गोर्खा, नेवार, तमंग, थारू, शवी

**अंतर्प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी, उर्दू, इंग्लिश**[48]

राहुल के बारे में यह बात बहुप्रचारित है कि वे अँग्रेज़ी या उर्दू विरोधी थे। यह सही नहीं कहा जा सकता। वे कहते हैं कि मुस्लिम प्रधान प्रान्तों में उर्दू अन्तर्प्रान्तीय भाषा होगी और बाकी प्रान्तों में हिन्दी। (यह संदर्भ हिन्दी-उर्दू राज्यों के संदर्भ में कही गयी है।) लाखों की तादाद में ऐंग्लो-इंडियन और दूसरे जो अँग्रेज़ी बोलते हैं उनके लिए वे कहते हैं कि ‘‘यद्यपि इनकी आबादी सारे भारत में बिखरी हुई है, तो भी हर जगह उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए अँग्रेज़ी भाषा के स्कूलों का प्रबंध करना होगा।’’[49] वे मातृभाषा की शक्ति को लेकर सचेत और आशावान हैं और इस बात से बिलकुल इत्तफाक नहीं रखते कि ग्रामीण बोलियों का महत्व सिर्फ उनके सुंदर गीतों, कहानियों, मुहावरे और लोकोक्तियों के कारण हैं और उन्हें संग्रहीत कर लिया जाना चाहिए क्योंकि ये धीरे धीरे मर रही हैं। वे जोरदार शब्दों में कहते हैं कि ‘‘...धृष्टता मत कीजिए। यदि ये भाषायें...अब तक नहीं मरी तो नज़दीक भविष्य में वे ...शेष (खत्म) नहीं होने जा रही। उनके तुलसियों, सूरों और विद्यापतियों की कदर अब तक आपने न की या उन्हें भुला दिया तो भी उनकी उर्वरता गई नही; ज्यों की त्यों हैं। भविष्य उनका है।’’[50] वे कहते हैं ‘‘जनता की भाषाएँ जब घर की मालकिन बनेंगी, अपने घर को संभालने का सामर्थ्य जनता में तभी आ सकता है।’’[51]

राहुल के लिए अधिक प्रान्तों का बनना अच्छी बात है। वे कहते हैं कि अभी तक प्रान्तों का बंटवारा शासकों के सुभीते के अनुसार हुआ था अब उसे जनता के सुभीते के अनुसार करना होगा। उनके शब्दों में ‘‘तीन प्रान्तों की जगह तीस प्रांत हो जाने से अंग्रेज़ प्रभुओं की आपत्ति के ख्याल से डर मत जाएँ ...क्या आप समझते हैं कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद ऐसा ही अक्षुण्ण रहेगा? सफेद आई सी एस वालों की चक्की के नीचे भारत क्या ऐसे ही पिसता रहेगा? अगर यह भी हो तो भी फिक्र करने की ज़रूरत नही।’’[52]

भाषा और इसके आधार पर गठित राज्य जनपद पर राहुल बहुत स्पष्ट रूप से कुछ सुझाव देते हैं। उनके अनुसार हिन्दी-उर्दू प्रांत (पंजाब, सिंध, युक्त-प्रांत, बिहार तथा रियासतों) को 30 जनपदों में इस प्रकार बांटा जा सकता है -

| क्र. | भाषा | जनपद | केंद्र |
|---|---|---|---|
| 1. | हिन्दकी | पच्छिमी पंजाब | रावल्पिन्ड़ी |
| 2. | मध्य पंजाबी | मध्य पंजाब | लाहौर |
| 3. | पूर्वी पंजाब | पूर्व पंजाब | लुधियाना |
| 4. | सिन्धी | सिंध | करांची |
| 5. | मुल्तानी | मुल्तान | मुल्तान |
| 6. | काश्मीरी | काश्मीर | श्रीनगर |
| 7. | पच्छिमी पहाड़ी | त्रिगर्त | कांगड़ा |
| 8. | हरियानी | हरियाना | दिल्ली |
| 9. | मारवाड़ी | मारवाड़ | जोधपुर |
| 10. | वैराटी | विराट | जयपुर |
| 11. | मेवाडी | मेवाड़ | चित्तौड़ |
| 12. | मालवी | मालवा | उज्जैन |
| 13. | बुन्देली | बुंदेलखंड | झांसी |
| 14. | ब्रज | सूरसेन (?) | आगरा |
| 15. | कौरवी | कुरु | मेरठ |
| 16. | पंचाली | रूहेलखण्ड | बरेली |
| 17. | गढ़वाली | गढ़वाल | श्रीनगर |
| 18. | कूर्मांचली | कूर्मांचल (कुमाऊँ) | अल्मोड़ा |
| 19. | कौशली | कोशल | अवध लखनऊ |
| 20. | वात्सी | वत्स | प्रयाग |
| 21. | चेदिका | चेदी | जबलपुर |
| 22. | बघेली | बघेलखंड | रीवाँ |
| 23. | छत्तीसी | छत्तीसगढ़ | विलासपुर |
| 24. | काशिका | काशी | बनारस |
| 25. | मल्लिका (भोजपुरी) | मल्ल | छपरा |
| 26. | वज्जिका | वज्जी | मुजफ्फरपुर |
| 27. | मैथिली | विदेह (तिरहुत) | दरभंगा |
| 28. | अंगिका | अंग | भागलपुर |
| 29. | मागधी (मगही) | मगध | पटना |
| 30. | संथाली | संथाल परगना | जसीडीह |

यह स्पष्ट है कि यह राहुल के लिए अंतिम तालिका नहीं थी, क्योंकि श्री नगर को दो जनपदों के केंद्र पर भी शायद वह पुनर्विचार करते अगर वे इस पर और सोचते। यह भी कहा जा सकता है कि वे मुण्डा, उरांव, हो आदि के बारे में भी वे जरूर कुछ सोचते क्योंकि वे इस विषय पर उसी वर्ष लिख चुके थे। जो बात ध्यान देने योग्य है वह है राहुल की लोकतान्त्रिक सोच। वे जाति की प्राथमिक पहचान के रूप में भाषा को रखते हैं और सभी जनभाषाओं के साथ एक जनपद की बात रखते हैं।

वे हिन्दी को इन तीस जनपदों के बीच संवाद की भाषा के रूप में देखते हैं। हिन्दी को वे अनिवार्य द्वितीय भाषा (जो हफ्ते में दो तीन घंटे पढ़ते हों) के रूप में रखने की वकालत करते हैं।

राहुल ने भाषा को कैसा होना चाहिए विषय पर अपना जो अभिमत रखा है उसपर विशेष रूप से ध्यान दिया जा सकता है। वे एल्बर्ट श्वाइट्जर के हवाले से फ्रेंच और जर्मन भाषा के अंतर को उपवन और वन के अंतर की तरह देखते हैं। जर्मन लोक भाषा से जुड़ी है और इसमें जंगल की भांति विचरने का विकल्प खुला है जो फ्रेंच की सुगढ़ और सुनिश्चित रास्ते से अलग है। भाषा के प्रवाहमान रूप की ही राहुल वकालत करते हैं। वे हिन्दी को जनभाषाओं की ''महाउर्वर" भूमि की ओर मुड़ने की सलाह देते हैं। इसी से संस्कृत या अरबी फारसी से उधार लेकर चलने की प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है।

राहुल सांकृत्यायन को याद करते हुए भीष्म साहनी ने एक मालमक वाक्य लिखा है ''राहुलजी की जिज्ञासा उन्हें बहुत दूर तक ले जा चुकी थी... तभी मैंने जाना कि ज्ञान की भूख भी मनुष्य में उन्माद की सी स्थिति पैदा कर सकती है।''[53] इस उन्माद की सी स्थिति ने राहुल को भारतीय बौद्धिक परम्पराओं को बचाने और उसको आज के लोगों के लिए उपलब्ध करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रखा। इस भूख ने एक जीवन में उन्हें इतना कुछ करने में सक्षम बनाया जो अन्य किसी के लिए असंभव सी बात लगती है। राहुल के विचार और लेखन का पाट बहुत फैला हुआ है। उनके लेखन पर विमर्श की संभावना बनी हुई है। उनकी ज्ञान यायावरी में अंतनिहित सूत्रों को समझने और उससे सीखने की जरूरत है। उनकी बातों से असहमत होते हुए भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

*भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान,*
*राष्ट्रपति निवास, शिमला-171004*

**सन्दर्भ -**

1. *यह आलेख राहुल सांकृत्यायन पर एशियाटिक सोसाइटी, कोलकाता और गोविंद बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद में प्रस्तुत आलेखों का संशोधित रूप है।*
2. *राहुल सांकृत्यायन , मेरी जीवन यात्रा भाग 3, पृ 28।*
3. *यह एक महत्त्वपूर्ण कथन है। विष्णुचन्द्र शर्मा ने 1939 में उनके भाषणों का उल्लेख करते हुए इस ओर संकेत किया है। एक अन्य राहुल प्रेमी (अंध भक्त नहीं) राघव शरण शर्मा ने उस दौर के कुछ साक्ष्यों के आधार पर आम लोगों के अंध विश्वास के प्रति अनास्था को प्रदशित करने की राहुल की शैली पर माना है कि राहुल जी किसानों को दिखा दिखाकर निरामिष भोजन करते थे। इस कारण किसान आंदोलन के दौरान कुछ दिक्कतें भी किसान सभा के लोगों को हुई। (इस संबंध में राघव शरण शर्मा के पास जो मौखिक श्रोतों की बहुत जानकारी है। राहुल के प्रति आदर रखने वाले राघव जी के कथनों को आधार बनाकर यह अनुमान किया जा सकता है कि किसान सभा के दिनों के अनुभवों के बाद शायद राहुल जी को 1939 में यह लगने लगा हो कि साधारण और असाधारण दो किस्म के लोगों में बुद्धि और श्रद्धा को के प्रभाव को ध्यान में रखने की जरूरत है। (देखें विष्णु चन्द्र शर्मा, समय साम्यवादी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृ 426)।*
4. *यह एक विवाद का विषय है कि राहुल ने पार्टी छोड़ी या उन्हें पार्टी से निकाल दिया गया। खुद राहुल ने अपने को आजन्म कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य माना। 1956 में लिखी आत्मकथा में उन्होने माना है कि वे 1917 की रूसी क्रांति के होने के एक दो महीने बाद से ही, जब इसकी खबर राहुल ने अखबारों में पढ़ी, तभी से वे इसके प्रति आकर्षित हो गए। उनके शब्दों में -''साम्यवाद मेरा अपना वाद हो गया। संयोग नहीं मिला, इसलिए पार्टी के भीतर आने में मुझे बीस बरस लगे।'' 1939 में मुंगेर में वे बिहार कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य बने। 28 दिसंबर 1947 को जब वे पार्टी दफ्तर में गए और उनको यह कहा गया है कि वे हिन्दी-उर्दू के प्रसंग में व्यक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण के कुछ हिस्सों*

को निकाल दें। शालीन राहुल ने लिखा है कि अगर यह छप कर नहीं आया होता तो वे निकाल देते पर भाषण के छाप जाने की स्थिति में वे ऐसा नहीं कर सकते। उनके इस कथन को बहुत तौल तौल कर पढ़ने की जरूरत है "उस समय मैं समझता था, पार्टी वाले राष्ट्रीयता के बारे में हलके दिल से सोचते हैं, और मतवाद की संकीर्णता को प्रश्रय देते, दूर भविष्य में होने वाले प्रभावों को नही समझ पाते।" (देखें राहुल सांकृत्यायन, मेरी जीवन यात्रा, भाग चार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1967, पृ. 54-56)

5. मार्क्सवादी चिंतक लुई अल्थूसर ने मार्क्स के लेखन को दो भागों में बाँट कर देखने की कोशिश की है। उनके हिसाब से मार्क्स के पहले चरण के लेखन में हेगेलियन प्रभाव है और मार्क्स के चिंतन का सबसे वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण हिस्सा उनके 1848 के बाद का लेखन है जिसे अल्थूसर परिपक्व मार्क्स के रूप में देखते हैं। राहुल सांकृत्यायन के संदर्भ में 1940 के दशक में परिवर्तन के सूत्र मौजूद हैं लेकिन 1947 के बाद जो उनका लेखन है उसके साथ उनके पूर्ववर्ती लेखन का एक अंतर दिखता है, ऐसा प्रस्तावित किया जा सकता है। यह परिवर्तन एकरेखीय नहीं है, पर अंतर है, ऐसा इन पंक्तियों के लेखक को लगता है।
6. राहुल सांकृत्यायन, 'मैं कहानी लेखक कैसे बना?' राहुल निबंधावली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। 1997 (1970), पृ. 4-5
7. वही।
8. भगवतशरण उपाध्याय, 'भारतीय अनुसंधाता राहुल' नया ज्ञानोदय, सितम्बर, 2017, पृ. 83 (पुर्नप्रकाशित)
9. लोक इतिहास के प्रसंग में उनके एक कथन कि "हर गाँव के टीले का एक इतिहास होता है" ने शोधार्थियों को बहुत प्रेरित किया है।
10. राहुल के गंगा पुरातत्वांक के संपादक के रूप में किए गए काम से अगर विचार शुरू हो तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे तीस के दशक में इतिहास के बारे में कई स्तरों पर सोचते रहे हैं। यह अंक जनवरी 1933 में छप कर आया। इसे उन्होने रामगोविन्द त्रिवेदी के साथ मिलकर संपादित किया था।
11. कमला सांकृत्यायन, 'मध्य एशिया का इतिहास', महमानव महापंडित, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ 99-113।
12. Introduction', in Veena Das ed. Sociology and Social Anthropology Vol I, OUP, New Delhi, p- 13.
13. राहुल सांकृत्यायन, आज की राजनीति, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता, 1949, भूमिका।
14. इस संबंध में चर्चा के लिए देखें हितेन्द्र पटेल, 'राहुल सांकृत्यायन के आज़ाद भारत मे संघर्ष के कुछ संदर्भ', नया ज्ञानोदय, नई दिल्ली , सितंबर 2017। राहुल के प्रशंसकों की एक बड़ी संख्या 1930 के दशक में थी जब वे तिब्बत से प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों को लेकर लौटे थे। राजेंद्र प्रसाद और नेहरू भी थे। राजेंद्र प्रसाद से राहुल का संपर्क बहुत पुराना था। राजेंद्र प्रसाद उस समय श्रीलंका भी गए थे जब राहुल वहाँ शुरुआती दौर में अध्यापन कर रहे थे। नेहरू के इलाहाबाद की सभा में राहुल जैसों की विश्वविद्यालयों में न होने की पीड़ा का ज़िक्र बहुत प्रसिद्ध है। ये दोनों आज़ाद भारत में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री थे जब जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होने चीन जाकर माओत्से तुंग से मिलने की इच्छा प्रकट की। इस आशय का एक पत्र राहुल ने राजेंद्र प्रसाद को लिखा की वे उन्हें अपनी ओर से एक पत्र देकर माओ से मिलने में मदद करें। राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद ने प्रधान मंत्री नेहरू से पूछा कि क्या ऐसा करना ठीक होगा? नेहरू ने पत्र न देने के लिए कहा क्योंकि इसके पूर्व डॉ. रघुवीर इस तरह के पत्र का उपयोग अपने व्यक्तिगत उद्देश्य से कर ले गए थे। नेहरू का तर्क था कि इस तरह के पत्र को वहाँ की सरकार इस रूप में लेती है मानो पत्र-वाहक सरकार का प्रतिनिधि हो। राजेंद्र प्रसाद ने अपनी ओर से कोई पत्र राहुल जी को देने से मना कर दिया। राहुल माओ से नहीं मिल सके। कुछ अन्य संदर्भों के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य गुणाकर मुले, स्वयंभू महापंडित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993। गुणाकर मुले ने कुछ संदर्भों को संकेत रूप में ही रखा है लेकिन जो उन्होने पत्र छापे हैं, जो इसी पुस्तक में संग्रहीत हैं, उससे यह स्पष्ट है कि राहुल को बहुत दिक्कत हुई थी और वे अपने ही लोगों के व्यवहार से बहुत दुखी हुए थे। कमला सांकृत्यायन और पुत्र जेता सांकृत्यायन ने यह उल्लेख किया है कि राहुल जी वे मध्य एशिया का इतिहास के लिए साहित्य अकादमी के द्वारा दिए गए पुरस्कार को नेहरू के हाथों लेने के लिए तैयार नहीं थे। पत्नी कमला सांकृत्यायन के विशेष अनुरोध पर वह राजी हुए लेकिन इस शर्त पर कि वे झुक कर पुरस्कार नहीं लेंगे। नेहरू के सामने सीधे तने हुए राहुल की जो तस्वीर है वह इस कारण से ही है। संभवतः मामा वरेरकर (मराठी लेखक), प्रभाकर माचवे और कमला जी के अनुरोध (पैरों पर गिरकर ) के कारण ही 1958 में राहुल नेहरू के हाथों यह पुरस्कार लेने के लिए राजी हुए। (गुणाकर मुले, उपरोक्त, पृ.57। एक प्रसंग का उल्लेख कमला सांकृत्यायन ने किया है। राहुल जी की बहुत इच्छा थी कि उनके लोकप्रिय वोल्गा से गंगा का रूसी अनुवाद उनके जीते जी प्रकाशित हो जाए। उनकी साध पूरी न हुई और अन्य

लेखकों की पुस्तकों के रूसी अनुवाद की अनुशंसाएं होती रहीं। राहुल जी के साथ नेहरू के संपर्क का एक सिरा 1936-37 के दिनों से भी जुड़ा है जब विजयालक्ष्मी पंडित ने राहुल का नाम देखकर भी उनसे मिलने से मना कर दिया था। आहत राहुल ने 1937 में आनंद भवन में नेहरू के बुलावे पर वहाँ जाने से मना कर दिया था। अगले दिन यह कहने पर कि नेहरू स्वयं उनसे मिलने चलने आएंगे, नेहरू के स्वास्थ्य (बीमारी से वे हाल ही में उठे थे) को ध्यान में रखकर राहुल उनसे मिलने गए थे। (मेरी जीवन यात्रा खंड 1, जिल्द 2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृ. 264-265।)

15. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, 'कडवे-मीठे दो लघु संस्मरण', उपरोक्त, पृ. 183
16. भदंत आनंद कौशल्यायन, 'श्री लंका में राहुल जी', उपरोक्त, पृ. 167
17. कमला सांकृत्यायन, महामानव , 1997, पृ. 14
18. वही, पृ. 19
19. यशस्वी आलोचक रामविलास शर्मा से लेकर उनके मित्र और सहयोगी रहे महादेव साहा ने इसी तरह की बातें कई प्रसंगों में की हैं। लेकिन इतिहासकार राम शरण शर्मा ने राहुल सांकृत्यायन के बारे में बहुत सकारात्मक तरीके से सोचा है।
20. राहुल सांकृत्यायन पर बोलते हुए नामवर सिंह का यह कथन है।
21. 'पाकिस्तान या जतियों की समस्या?', पूर्वोक्त, पृ. 11
22. वही, पृ. 12-13
23. वही, पृ. 15
24. मेरी जीवन यात्रा भाग दो, किताब महल, इलाहाबाद, 1950, पृ. 640
25. डॉ. जयनाथ 'नलिन', 'राहुलजी का सहज व्यक्तित्व', डॉ. ब्रह्मानन्द संपा. राहुल सांकृत्यायन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, हरियाणा प्रकाशन, दिल्ली, 1971, पृ 20
26. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', 'मंगलमूर्ति श्री राहुल जी', डॉ. ब्रह्मानन्द, संपा. पूर्वोक्त , पृ. 42
27. डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 'बोधिसत्व राहुल सांकृत्यायन', डॉ. ब्रह्मानन्द सम्पा. पूर्वोक्त , पृ. 30
28. डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, 'भाषा अध्ययन के क्षेत्र में राहुलजी की देन', पूर्वोक्त , पृ. 105
29. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य धारा, किताब महल, इलाहाबाद, 1945, पृ. 5 वे इस देशी भाषा को हिन्दी की ही आदि भाषा के रूप में स्वीकार नहीं करते बल्कि यह भी कहते हैं कि इस देशी भाषा पर मराठी, उडिया, बंगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा का भी उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी का है। (पूर्वोक्त, पृ. 11-12) इसे वह 'सम्मिलित निधि' मानते हैं और कहते हैं कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक द्राविड भाषा भाषी आंध्र, तमिल, केरल और कर्नाटक को छोडकर भारत के सभी प्रांतों की एक सम्मिलित भाषा थी। वे अपभ्रंश के कवियों को भुला देने को बहुत गलत मानते हैं और साधिकार कहते हैं कि सरहपाद (760) से लेकर राजशेखर सूरि (1300) के बीच के समय के कवियों को महत्त्व देते हैं। वे लिखते हैं - ''अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु है। यही कवि हिन्दी-काव्य-धारा के प्रथम सृष्टा थे। वे अश्वघोष, भास, कालिदास और बाण की सिर्फ जूठी पत्तलें नहीं चाटते रहे, बल्कि ... हमारे काव्य-क्षेत्र में नया सृजन किया है; नये चमत्कार, नये भाव पैदा किये।" (हिन्दी काव्य धारा, पृ. 12)
30. अपने मित्र आनंद कौशल्यायन को 28 अक्टूबर 1946 को लेनिनग्राद से लिखे पत्र में जिन दो पुस्तकों के बारे में प्रतिक्रिया जानने में उनकी विशेष रुचि है वे हैं काव्य-धारा और भागो नहीं दुनिया को बदलो (देखें गुणाकार मुले, राहुल के पत्र आनंद के नाम', उपरोक्त , पृ 164
31. डॉ. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और राहुल सांकृत्यायन', उपरोक्त , पृ. 84
32. कमला सांकृत्यायन, महामानव महापंडित, पूर्वोक्त, पृ. 12-13
33. शिवपूजन सहाय,'वक्तव्य', दोहा-कोश बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1957, पृ. 1-2
34. इस संदर्भ में एक जोरदार टिप्पणी के लिए देखें नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृ. 103।
35. अपने मित्र आनंद कौशल्यायन को 28 अक्टूबर 1946 को लेनिनग्राद से लिखे पत्र में जिन दो पुस्तकों के बारे में प्रतिक्रिया जानने में उनकी विशेष रुचि है वे हैं काव्य-धारा और भागो नहीं दुनिया को बदलो (देखें गुणाकार मुले, राहुल के पत्र आनंद के नाम', उपरोक्त , पृ. 164
36. कोलकाता विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका रत्ना बनर्जी ने इस संबंध में जानकारी दी।

37. राहुल सांकृत्यायन, आज की समस्याएँ, किताब महल, इलाहाबाद, 1945, पृ. 1. यह पुस्तक राहुल जी के तीन लेख और एक भाषण को लेकर पुस्तकाकार प्रकाशित हुये हैं। ये तीनों लेख प्रकाशित हुए थे और भाषण मध्य-भारतीय फासिस्ट-विरोधी लेखक के अध्यक्ष के हैसियत से (1944 में) दिया गया था। जाति के चिन्ह के रूप में उन्होने भाषा के अतिरिक्त वेश, भोजन, गाने की रुचि ('गाना और खाना') और भौगोलिक स्थिति का ज़िक्र किया है।
38. वही, पृ. 2।
39. वही, पृ. 3।
40. वही।
41. यह उद्धरण डा जयनाथ 'नलिन' के संस्मरण से लिया गया है। 'नलिन' जी ने राहुल जी से मसूरी में डेढ़ घंटा बातचीत की थी जिसमें यह प्रसंग आया था। देखें डॉ. जयनाथ 'नलिन', 'राहुलजी का सहज व्यक्तित्व', डा ब्रह्मानन्द संपा. राहुल सांकृत्यायन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, हरियाणा प्रकाशन, दिल्ली, 1971, पृ. 19-20
42. मेरी जीवन यात्रा भाग 3
43. वही, पृ. 21
44. राहुल सांकृत्यायन, भागो नहीं दुनिया को बदलो, किताब महल, इलाहाबाद, 2016 ( प्रथम संस्करण 1945), पृ. 242-243
45. 'पाकिस्तान या जातियों की समस्याएँ', आज की समस्याएँ , पृ. 4।
46. वही, पृ. 21
47. वही, पृ. 5
48. इस प्रकार कुल मिलाकर 73 जतियों का उल्लेख राहुल ने किया है। देखें पूर्वोक्त, पृ. 27-28
49. वही, पृ. 29
50. वही, पृ. 33
51. वही, पृ. 34
52. वही, पृ. 35
53. भीष्म साहनी, 'राहुल जी : कुछ यादें' नया ज्ञानोदय, सितम्बर, 2017, पृ. 90। (पुर्नप्रकाशित) यह प्रसंग 1935 के आसपास का है।

# प्रकृति व समाज का द्वैत और समाज विज्ञानों की मानव-केंद्रित वैचारिकी

*ईश्वर सिंह*

इक्कीसवीं सदी में पर्यावरण व पारिस्थितिकी के संकट ने अभूतपूर्व रूप ले लिया है। प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध इस्तेमाल और रासायनिक प्रक्रिया से बने उत्पादों से हवा, पानी व जमीन तीनों में जहरीलापन बढ़ रहा है। वैश्विक तापमान वृद्धि और मौसम परिवर्तन से पैदा होने वाली पारिस्थितिक तबाहियां बढ़ती जा रही हैं। आज मानवजाति और उसे जन्म देने वाली वसुधा दोनों का भविष्य संकटमय हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ, विभिन्न देशों की सरकारें और हजारों शोध संस्थान व विश्वविद्यालय पारिस्थितिक संकट की विराटता को ठीक-ठीक समझ पाने के लिए लगातार अनुसंधान गतिविधियों में लगे हुए हैं। यह शोध उसी विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मदद से किए जा रहे हैं, जिसके सहारे पंद्रहवीं सदी के बाद प्रगति और विकास के वेश में प्रकृति के अंधाधुंध दोहन के युग को शुरू किया गया था।

पारिस्थितिकी का यह संकट प्राकृतिक नहीं बल्कि मानव-निर्मित है। संकट सामाजिक व सांस्कृतिक इस अर्थ में है कि यह प्रकृति के प्रति एक विशेष सामाजिक रवैये के चलते पैदा हुआ है। इनकी जड़ में यूरोपीय औद्योगिक क्रांति के समय उपजा वह दृष्टिकोण है, जिसके तहत प्रकृति उपभोग की एक वस्तु में तबदील होती गई। मानव जाति के सामने आज सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि इस वैश्विक पारिस्थितिक संकट से कैसे पार पाया जाए। क्या इसके लिए हरित प्रौद्योगिकी और अलग तरह के आधुनिकीकरण जैसे सुझाव काफी होंगे या फिर मौजूदा आर्थिक व्यवस्था और उसमें निहित उपभोग की संस्कृति को ही बदलना होगा। इस रूप में पारिस्थितिकी का संकट आज एक साथ आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संकट का रूप ले चुका है। इनका हल महज विज्ञान व प्रौद्योगिकी की दृष्टि और औजारों के जरिए नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण का संकट भी है। इसलिए दर्शन व समाज विज्ञान इस संकट के विभिन्न आयामों को समझने और समाधान की कोशिशों में महती भूमिका निभा सकते हैं।

मगर एक और विडंबना यह है कि आज के समय की सबसे बड़ी सामाजिक व सांस्कृतिक समस्या होते हुए भी पर्यावरण व पारिस्थितिकी को समाज विज्ञानों व मानविकी के अध्ययनों में यथोचित स्थान नहीं मिल पा रहा है। समाज विज्ञान कमोबेश अब भी मानव-केंद्रित दृष्टि के घेरे में सिमटे हुए हैं। इसकी एक वजह शायद यह है कि स्वयं समाज विज्ञानों का अभ्युदय आर्थिक विकास व प्राकृतिक दोहन के युग में हुआ था। अर्थशास्त्र ही नहीं, समाजशास्त्र से लेकर राजनीति शास्त्र तक में विकास की खास अवधारणा पूर्व-मान्यता की तरह मौजूद रही है।

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 57-68*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

हालांकि 1960 के दशक के बाद से पर्यावरण के सरोकारों की तरफ समाज विज्ञानों का ध्यान जाना शुरू हुआ था। यह मोड़ सबसे पहले अमेरिका और यूरोप में आया, जहां समाज विज्ञान संस्थागत स्तर पर काफी मजबूत थे और जहां के विकास के रास्ते ने पारिस्थितिकी को सबसे ज्यादा प्रभावित किया था। मगर अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर ही यह कहा जा सकता है कि पर्यावरण को मिली ज्यादा जगह के इस नए घटनाक्रम से भी समाज विज्ञान अपनी मानव-केंद्रिकता की विरासत से ज्यादा दूर नहीं जा सके। आज वैश्विक तापमान वृद्धि, मौसम परिवर्तन जैसे अपेक्षाकृत नए विमर्शों के मद्देनजर फिर नई चुनौतियां सामने हैं। समाज विज्ञानों के सामने भी अपनी दृष्टि, उपागमों, सिद्धांतों, शोध पद्धतियों पर पुनर्विचार करने और इस तरह स्वयं को पुनर्निधारित करने की चुनौती है।

यह लेख प्रकृति से अलगाव की विरासत और पर्यावरणीय संवेदनशीलता की चुनौती के मद्देनजर समाज विज्ञानों के वैचारिक रुझानों, पद्धतियों, सांस्थानिक सीमाओं और संभावनाओं का जायजा लेने की एक विनम्र कोशिश है। समाज विज्ञान की पूर्व-मान्यताओं की समीक्षा के जरिए समाज विज्ञान के मानव-केंद्रित तर्क की पड़ताल की जाएगी। पिछले पाँच-छह दशकों में समाज विज्ञानों में पर्यावरण की दृष्टि से आए बदलावों का जायजा लिया जाएगा। लेख का पहला हिस्सा समाज विज्ञान के उद्भव काल से लेकर आज तक की प्रधान प्रवृतियों को रेखांकित करता है, जिसमें प्रकृति व समाज का द्वैत प्रमुख है। लेख के दूसरे हिस्से में समाज विज्ञानों में साठ व सत्तर के दशक से आए पर्यावरणीय रुझान के कारणों और प्रभावों का जायजा लिया गया है। वहीं इस प्रश्न पर भी बात की जाएगी कि यह वैचारिक मोड़ समाज विज्ञानों की दशा व दिशा को बदलने में कितना कामयाब हो पाया है और आगे क्या संभावनाएं हो सकती हैं।

## I

### औद्योगिक समाज के सांस्कृतिक धरातल पर समाज विज्ञानों का उदय

इसे आधुनिक जीवन का एक मिथक ही कहा जा सकता है कि प्रकृति की कोई एक ही समझ होती है, जिसे सभी लोग साझा करते हैं। प्रकृति की समझ न तो सारी दुनिया में एक है, और न अपरिवर्तित या विवादरहित। प्रकृति को लेकर लोगों व समाजों में तरह-तरह की दृष्टियां, छवियां और अवधारणाएं रही हैं। जहां एक आदिवासी समुदाय स्वयं को प्रकृति से अभिन्न मान सकता है, वहीं औद्योगिक समाज प्रकृति को अपने से बाहर की किसी निर्जीव वस्तु की तरह मान सकता है, जिसका मनचाहा इस्तेमाल किया जा सके। अपने उपकरणवादी नजरिए के चलते औद्योगिक समाज के लिए पहले प्रकृति और संस्कृति में स्पष्ट विभाजन करना और फिर समाज को स्व-संदर्भित मानना आवश्यक हो जाता है। प्रकृति अपने सारे रहस्य व गरिमा गवां कर महज संसाधन और खरीद-फरोख्त की वस्तु में तबदील हो जाती है। किसी देशकाल में प्रकृति व समाज या संस्कृति की अवधारणाएं काफी गहरे तक एक-दूसरे से गुथीं होती हैं। किसी भी समय में प्रचलित प्रकृति की अवधारणाएं सामाजिक या सांस्कृतिक रूप से गढ़ी गई होती है। आदिवासी, खेतिहर और औद्योगिक समाजों में ये अवधारणाएं नितांत अलग होती हैं, क्योंकि इन समाजों के प्राकृतिक संसाधनों को बरतने के तरीके अलग-अलग होते हैं।

गुहा व गाडगिल ने संसाधन-उपयोग प्रणाली का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत पेश किया है। वे मनुष्य के अब तक के इतिहास को संसाधन-उपयोग की चार प्रणालियों में बांटते हैं। (गाडगिल व गुहा, 2018, 6) शिकारी-संग्राहक व झूम खेती वाले समाजों में मनुष्य का प्रकृति के साथ अंतरंग संबंध होता है और वह अक्सर स्वयं को जीवों के समुदाय का हिस्सा ही मानता है। इस दौर में प्रकृति से डरने, उसका मुकाबला करने, उसके

साथ पारस्परिकता विकसित करने और अलग-अलग रूपों में प्रकृति-पूजा करने जैसी विचारधाराएं व सांस्कृतिक मूल्य उभरते हैं। वहीं घुमंतू चरागाह प्रणाली में मनुष्य में प्रकृति के साथ पारस्परिकता के साथ ही उस पर प्रभुत्व जमाने का विचार पैदा हो जाता है। व्यवस्थित खेती प्रणाली पर आधारित समाजों में मनुष्य प्रकृति से पूरी तरह से अलग नहीं होता, मगर उसके दोहन को अपना अधिकार मानने लगता है। इस दौर में आंशिक रूप से मनुष्यों को जीवों के समुदाय का एक हिस्सा माना जाता है, वहीं प्रकृति का संरक्षक भी माना जाने लगता है। वहीं औद्योगिक समाजों में मनुष्य न सिर्फ स्वयं को प्रकृति से अलग मानने लगता है, बल्कि उसे पूरी तरह नियंत्रित करना चाहता हैं। यूरोपीय औद्योगिक समाजों ने अपने यहां के प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट करने के बाद सारी दुनिया के संसाधनों पर हक जताया था। इस दौर में प्रकृति को पूरी तरह पवित्रता से रिक्त या इस्तेमाल की वस्तु की तरह माना जाता है। (गाडगिल व गुहा, 2018, 12 से 39)

औद्योगिक समाज में प्रकृति से मनुष्य की स्वायत्तता को कई आधुनिक प्रक्रियाएं पुष्ट करती हैं, जो विज्ञान व प्रौद्योगिकी के प्रयोग पर आधारित होती हैं। शहरीकरण और प्रकार्यगत विभेदीकरण भी इनमें शामिल हैं। क्लिंटमैन प्रकार्यगत विभेदीकरण के जरिए मनुष्य के प्रकृति से दूर होते जाने का एक उदाहरण कचरा प्रबंधन का देते हैं। 1930 के आसपास स्वीडन में घरों में ही कचरा डालने की ढाल बनाई जाने लगी थी, जहां से कचरे को इकट्ठा करने और ठिकाने लगाने का केंद्रीयकृत इंतजाम था। कचरे के इस प्रबंधन से लोग न सिर्फ कचरे के निपटान के पारिस्थितिक चक्र से बल्कि प्रकृति से भी अलग होने लगे। आधुनिक समाज में लोगों का प्रकृति के साथ संबंध अकसर विशेषज्ञ प्रणालियों के जरिए होता है, जो प्रौद्योगिकी व निर्धारित प्रक्रिया पर आधारित होती हैं। (Klintman, 1998, 37)

आधुनिक समाज प्रकृति व संस्कृति का तीखा द्विभाजन करता है। औद्योगिक मनुष्य धरती के तमाम आयामों को इतना प्रभावित कर चुका है कि अब मनुष्य के प्रभाव से निरपेक्ष प्रकृति की कल्पना तक मुश्किल है। स्वयं पर्यावरण नामक का शब्द इस बात का ज्वलंत उदाहरण हैं। पर्यावरण का एक अर्थ आस-पास का परिवेश भी होता है। पर्यावरण खासा शहरी शब्द है। गांव वाले इस शब्द का इस्तेमाल नहीं करते। वे अब तक प्रकृति या कुदरत शब्द का प्रयोग करते हैं। पर्यावरण भी आखिरकार एक मानव-केंद्रित अवधारणा है।

मानव-केंद्रिकता की अवधारणा पर्यावरण दर्शन व पर्यावरण नैतिकता के उभरने के बाद सामने आई है। ऐसे दृष्टिकोणों को मानव-केंद्रित माना जाता है, जो सृष्टि व धरती का केंद्र मनुष्य व उसकी गतिविधियों को मानते हैं। जो मानते हैं कि मनुष्य में ही नैतिक मूल्यवत्ता है, अन्य जीवों व प्रकृति में नहीं, इसलिए धरती में सबसे महत्त्वपूर्ण मनुष्य को अपने हितों के लिए प्रकृति के मनचाहे इस्तेमाल की छूट है। अलग-अलग नजरियों में हल्की, मध्यम से लेकर कट्टर मानव-केंद्रिकता तक हो सकती है। (Boddice, 2011, Nash,1989) प्रकृति की मानव-केंद्रित व परिस्थिति-केंद्रित सोच के बीच आज काफी तनातनी है। लोकप्रिय रूप से इसे विकासवाद बनाम पर्यावरणवाद की बहसों में भी देखा जा सकता है।

प्रकृति के मामलों में औद्योगिक मनुष्य का हस्तक्षेप इतना बढ़ गया है कि भूविज्ञानियों की अंतर्राष्ट्रीय परिषद और परिस्थिति विज्ञान, जल विज्ञान, स्तरित शैल विज्ञान आदि से जुड़ी अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं आज के भूगर्भशास्त्रीय युग को मानव-युग या एंथ्रोपोसीन घोषित करने के प्रस्ताव पर गंभीरता से विचार कर रही हैं, क्योंकि रेडियोधर्मिता, प्लास्टिक व अन्य मानव गतिविधियों से धरती अपने भूगर्भ से वायुमंडल तक अभूतपूर्व परिवर्तनों का शिकार हुई है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि हिम-युग के बाद कोई दस हजार साल पहले शुरू हुए अभिनव-युग या होलोसीन का अंत हो चुका है। (Lövbrand et al , 2009)

समाज विज्ञानों का उदय और प्रत्यक्षवाद की विरासतः समाज विज्ञान भी यूरोप के पुनर्जागरण काल की उपज हैं, जो औद्योगिकीकरण के साथ ही शुरू हुआ था। पहले प्राकृतिक विज्ञानों का उदय हुआ। फिर उसी वस्तुगत-वैज्ञानिक पद्धति की मदद से समाज के अध्ययन की कोशिश की गई, जिसे टालेमी, केपलर, बेकन और न्यूटन आदि बड़ी प्रतिष्ठा दिलवा चुके थे। बाद में समाज विज्ञानों में चेतना, व्याख्या और अर्थों पर जोर दिए जाने के चलते समाज विज्ञानों ने अपनी अलग अध्ययन पद्धतियों की खोज शुरू की। मगर यह प्रश्न आज तक समाज विज्ञान का केंद्रीय प्रश्न है कि यह किस सीमा तक विज्ञान है और किस सीमा तक कला या मानविकी। (Afonso, 2004, 74)

कोम्टे को समाजशास्त्र और इसकी प्रत्यक्षवादी विरासत का जनक माना जाता है। कोम्टे, दुर्खेइम, हॉब्स, रिकार्डो, एडम स्मिथ आदि ने समाज विज्ञान की आधारशिला रखी। माना गया कि प्रकृति व समाज दोनों का अध्ययन एक ही पद्धति से किया जा सकता है। यह दिलचस्प है कि प्रकृति व समाज के द्वैत की पूर्व-मान्यता को भी प्रकृति विज्ञान से लिया गया। प्रकृति विज्ञान में वस्तुगतता, मूल्यनिरपेक्षता, सटीकता जैसे मूल्यों पर जोर था। विज्ञानवादी दृष्टि प्रकृति को निर्जीव या प्रयोजन-रहित मानती थी, जिसमें समाज या मनुष्य की आत्मगतता का कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता।

मनुष्य के आंतरिक जगत की थाह लेने और सांस्कृतिक विभिन्नताओं को समझने में प्रत्यक्षवाद व अनुभववाद की तथ्यात्मक अध्ययन पद्धतियों की अपर्याप्तता अब जगजाहिर है। प्रत्यक्षवाद प्राकृतिक व सामाजिक प्रणालियों को एक-दूसरे से कटा और बंद मानकर चलता है और विश्वास करता है कि ऐसे प्रयोग किए जा सकते हैं, जिनमें प्रणाली के बंद और कटे हुए हिस्सों का अवलोकन किया जा सके और उनके आधार पर भविष्यकथन किए जा सकें। साथ ही यह मनुष्य की व्यवहारवादी समझ पर आधारित है। प्रत्यक्षवादी या आनुभविक पद्धति, जो आज भी भारत के विश्वविद्यालयों के समाज विज्ञानों की प्रधान शोध पद्धति बनी हुई है, सामाजिक- ऐतिहासिक संदर्भ की जटिलता के साथ न्याय नहीं कर पाती, और न ही सामाजिक नियमों के मूल्य-आधारित होने के आयाम की। वहीं प्रत्यक्षवाद की आलोचना करते हुए सामाजिक तथ्यों के पूर्व-व्याख्यायित होने का जो भाष्य-आधारित सिद्धांत सामने आया, वह भी कई बार विभिन्न सामाजिक संदर्भों, हितों का प्रतिनिधित्व करते मनुष्य के मानव-केंद्रित पूर्वाग्रहों की उपेक्षा कर देता है। (Roy Bhaskar, 1979, 136-154) फिर भी समाज विज्ञान की वे धाराएं मानव-केंद्रिकता के बारे में ज्यादा आत्म-प्रश्नेय हो पाती हैं, जो समाज विज्ञानों के उन दर्शनों से इत्तफाक रखती हैं, जो अर्थों, अवधारणाओं के निर्माण को प्रदत्त या यथार्थ के यांत्रिक प्रतिबिंब के रूप में नहीं लेते और उनके पीछे सामाजिक हितों व शक्ति-संबंधों का हाथ देखते हैं। जैसे कि सामाजिक निर्माणवाद और आलोचनात्मक यथार्थवाद की विभिन्न धाराएं। हालांकि इन दोनों धाराओं के बीच काफी अकादमिक विवाद और बहसें हैं। वहीं इनके भीतर भी कई अलग-अलग रुझान मिलते हैं। (Burningham and Cooper, 1999, Klein, 2002, Forsyth, 2001)

प्रत्यक्षवादी दृष्टि का असर यह भी पड़ा कि प्रकृति के बारे में किसी व्यक्ति या समुदाय की सोच को मूल्यों से निरपेक्ष मान लिया गया, जिस पर अलग-अलग समाजों में पाए जाने वाले शक्ति संबंधों, दृष्टिकोणों, हितों, सांस्कृतिक मूल्यों आदि का कोई असर नहीं पड़ता। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रकृति के बारे में पश्चिम के औद्योगिक समाज से उपजी वर्चस्वकारी दृष्टि को प्रदत्त और वस्तुगत मान लिया गया। (Klintman, 2000, 28-30) गैर-पश्चिमी मुल्कों में भी समाज विज्ञान ने यह जानने की कोशिश नहीं कि उनके समाजों में प्रकृति के बारे में कौन-कौन से नजरिए मौजूद हैं और उनके बीच किन मुद्दों पर टकराव हैं। हालांकि भारत में समाज विज्ञान में पिछले तीस-चालीस सालों में सामाजिक पारिस्थितिकी, वन इतिहास, पारिस्थितिक इतिहास,

पर्यावरणीय समाजशास्त्र जैसी नई धाराएं आई हैं और इन्होंने पर्यावरण-संवेदी अध्ययन व अनुसंधान प्रस्तुत किए हैं। मगर ये धाराएं भी समाज विज्ञान के संस्थागत लवाजमे के लिहाज से हाशिए पर हैं। यह सही है कि प्रकृति और प्रकृति की छवि या अवधारणा एक ही बात नहीं है, मगर समाज विज्ञान इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि प्रकृति के बारे में लोगों और समाजों का रवैया किस तरह बदलता है।

**प्रकृति से स्वायत्त समाज की पूर्व-मान्यता :** प्रकृति विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धति को जब समाज के ऊपर लागू करने का यत्न किया गया तब समाज व प्रकृति का द्वैत अपने आप समाज विज्ञानों में चला आया। शुरुआती ही नहीं बल्कि बाद के समाज वैज्ञानिक भी पर्यावरण को समाज से बाहर की ऐसी संघटना की तरह लेते रहे हैं, जिसका अध्ययन उनका नहीं बल्कि प्रकृति विज्ञान का काम था, जिनके पास वस्तुगत विधियां समाज वैज्ञानिकों से ज्यादा बेहतर व उन्नत थी। प्रकृति व पर्यावरण को समाज विज्ञान के दृष्टि फलक से बाहर करने पर कोई परेशानी नहीं हुई क्योंकि प्रकृति-प्रेमी व रोमानी रवैया साहित्य के जिम्मे किया जा चुका था। यह आधुनिकता के प्रधान तर्क प्रकार्यगत विभेदीकरण के अनुरूप था।

इस तरह मनुष्य की सामाजिकता को पर्यावरण व प्रकृति से स्वायत्त ढंग से संचालित होने वाला मान लिया गया। डनलप व कैटन ने सत्तर के दशक के बाद के समाजशास्त्रीय लेखों व पर्चों के अध्ययन के बाद बताया था कि समाजशास्त्रियों का बहुमत मानव समाज की उस छवि पर विश्वास करता है, जो मानती है कि समाज उन पारिस्थितिक तकाजों, सिद्धांतों और रुकावटों या बाधाओं से मुक्त है, जिनसे दूसरे जीव शासित होते हैं। जहां समाजशास्त्री समानता जैसे लक्ष्यों का पक्ष लेने की ओर झुकाव रखते हैं, वहीं वे निरंतर वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक विकास के जरिए असीमित प्रगति पर विश्वास करते हैं और मौसम परिवर्तन जैसी पर्यावरणीय परिघटनाओं के संभावित खतरों की उपेक्षा करते हैं। (Dunlap and Catton, 1992, 270).

समाजशास्त्री दुर्खेइम का यह वाक्य समाज विज्ञान में मशहूर रहा है कि सामाजिक तथ्यों को महज दूसरे सामाजिक तथ्यों के संदर्भ में ही व्याख्यायित किया जा सकता है। रामचंद्र गुहा लिखते हैं कि इस बात को समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के दो सबसे प्रसिद्ध पाठ्यपुस्तकीय उदाहरणों से समझा जा सकता है। मार्क्स ने पूँजीवाद के उदय को मुख्यतः अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के परिणाम के रूप में ही प्रस्तुत किया था। वहीं मैक्स वेबर ने पूँजीवाद के उदय को धार्मिक विश्वासों के जरिए व्याख्यायित किया था। (Guha, 1994, 4)

समाज विज्ञानों के भीतर एक बहस यह भी है कि दुर्खेइम, मार्क्स, वेबर जैसे शास्त्रीय समाजशास्त्रीय चिंतकों की अंतर्दृष्टियों को पर्यावरण व पारिस्थितिकी संबंधी अध्ययन के लिए कहां तक इस्तेमाल किया जा सकता है। इन तीनों ही चिंतकों के लेखन का पर्यावरणीय पक्ष भी सामने आया है और उस पर अनुसंधान हो रहे हैं। मगर प्रकृति व समाज के संबंधों पर उनकी अंतर्दृष्टियां प्रत्यक्ष नहीं बल्कि परोक्ष रूप से सामने आती हैं और अपने जमाने के सैद्धांतिक विवादों व बहसों में गुंथी हुई मिलती हैं। (Hannigan,1995, 5) मसलन पारिस्थितिक मार्क्सवाद की धारा में काफी काम हो रहा है। (Foster, 2000, Burkett, 2014) मगर इन शास्त्रीय सिद्धांतकारों के लेखन में विकासवाद व प्रकृतिवाद दोनों ही देखे जा सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि इनकी अवधारणाएं व सिद्धांत पर्यावरण व समाज की अंतक्रिया को समझने में उपयोगी नहीं हो सकते। लेकिन मानव-केंद्रिकता की समीक्षा से इन सिद्धांतकारों को भी बरी नहीं किया जा सकता।

एक और उदाहरण लिया जा सकता है। बच्चे व मनुष्य के समाजीकरण के सिद्धांतों व अनुसंधानों में सारा जोर परिवार, विद्यालय जैसी सामाजिक संस्थाओं और मनुष्यों के बीच के तत्कालीन सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक मूल्यों पर ही रहा आया है। किसी बच्चे के आत्मबोध के विकास में प्रकृति और पर्यावरण क्या भूमिका निभाते हैं, ये प्रश्न खड़े ही नहीं होते हैं। मनुष्य के जीवन के पारिस्थितिक आधार का सवाल अक्सर

छूट जाता है। मिट्टी, पानी, वनस्पति व प्राणी जगत, बाग, उजाड़, जंगल, मौसम आदि मनुष्य के आत्मबोध व सामाजिक बुनावट व सांस्कृतिक मूल्यों पर क्या असर डालते हैं और समाज का प्रकृति के प्रति नजरिया खुद सामाजिक संबंधों को कैसे बदलता है, इन प्रश्नों को संबोधित नहीं किया जाता है।

जबकि सभी सामाजिक रूपों में प्रकृति अनिवार्य रूप से गुंथी होती है। सामाजिक संबंध व संस्थाएं जल, थल व हवा के मध्य ही अवस्थित, बद्ध व रूपायित होते हैं, किसी निर्वात में नहीं। इस अर्थ में मनुष्य का इतिहास प्रकृति के इतिहास से अभिन्न है। उत्पादन, आर्थिक विकास, रहवास, प्रवास, जन्म, स्वास्थ्य, मृत्यु, प्रेम, विवाह, शिक्षा—ऐसा कोई सामाजिक आयाम नहीं है, जिसका प्रकृति से गहरा अंतर्संबंध न हो। मगर एक समय मानव-केंद्रिकता के अतिरेक में इस संबंध को भुला दिया गया। मनुष्य व समाज के प्रकृति से अलग व स्वायत्त होते ही सामाजिक चेतना में समाज व प्रकृति के द्वैत को स्वीकार कर लिया गया। समाज स्वयं अपना संदर्भ बन गया। शहरीकरण के बाद यह प्रक्रिया और तेज हो गई।

विकासवाद और समाज विज्ञानः समाज विज्ञान यूरोपीय पुनर्जागरण की जमीन पर विज्ञानों के युग में पैदा हुए। यह राष्ट्र-राज्यों के बनने और आर्थिक विकास और प्राकृतिक दोहन का युग भी था। इसी दौरान विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच एक अनुबंध परवान चढ़ा। शुरू में यह यूरोपीय साम्राज्य, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और विज्ञान के बीच का एक गठबंधन था। (हरारी, 2018, 272) शिव विश्वनाथन कहते हैं कि आधुनिकता के भीतर ही राष्ट्र-राज्य और आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के बीच एक सामाजिक अनुबंध निहित है, जिसके तहत दोनों विकास नामक सोप ऑपेरा में भागीदारी करते हैं। (Visvanathan, 1997, 6) यही राष्ट्र-राज्य जब भारत में बना, तब भी अनुबंध का रूप वैसा ही रहा, विकास और शहरीकरण का वही रास्ता अपनाया गया।

विकास के लक्ष्यों के साथ समाज विज्ञान का जो अनुशासन सबसे स्वाभाविक रूप से नत्थी दिखाई देता है, वह अर्थशास्त्र है। वाणिज्य, प्रबंधन, लेखा जैसे इसकी कई शाखाएं स्वयं नए अनुशासनों के रूप में विकसित हो गई हैं। आर्थिक प्रगति के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन विकास का पर्याय जैसा बन गया है। औद्योगिक संस्कृति को प्रकृति के संसाधनों के बगैर समझा जाना मुश्किल है। अर्थशास्त्र का विमर्श प्रकृति को किसी भी नीतिशास्त्र के तकाजों या मूल्यात्मक समीक्षा से अलग कर निरे संसाधन में बदलने का रास्ता बनाता है। विज्ञान, विकास और अर्थशास्त्र एक-दूसरे को सहारा देते हैं, एक-दूसरे का औचित्य प्रतिपादित करते हैं।

प्रकृति को संसाधन में बदलने और उसके जरिए माल या पण्य (कमोडिटी) उत्पादन और पूँजी का संचय विकास की प्रभुत्वशाली विचारधारा है। इसके लिए पारिस्थितिकी की किसी भी ऐसी प्रक्रिया का कोई मूल्य नहीं, जो मानवीय कार्यकलाप के बाहर होती हो। मगर साथ ही यह उन लोगों के हितों की भी उपेक्षा करता है, जो बाजार के नियमों के हाशिए पर जीवन-निर्वाह की अर्थव्यवस्था में जी रहे हों। (Vandana Shiva,1997, 289) शिवा के अनुसार बाजार की अर्थव्यवस्था का तर्क ही यह है कि ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कूटा जाए और पूँजी संचय बढ़ाया जाए। विकास की विचारधारा बताती है कि प्रकृति के सभी रूपों को माल उत्पादन के लिए कच्चे माल के रूप में बाजार अर्थव्यवस्था के दायरे में ले आया जाए। इस तरह प्रकृति व समाज की जो चीजें व प्रक्रियाएं बाजार में मूल्यवान नहीं होते व जिनके जरिए माल उत्पादन नहीं होता, उन्हें आर्थिक विकास का नजरिया मूल्यहीन करार दे देता है। (Vandana Shiva, 1997, 290) गुहा लिखते हैं कि 1976 में नरिंदर सिंह ने 'इकोनॉमिक्स एंड द क्राइसिस ऑफ इकोलॉजी' नामक पुस्तक लिखी थी। प्रकाशन के तत्काल बाद इसकी अच्छी समीक्षाएं हुईं, मगर अर्थशास्त्र के अनुशासन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। इसके द्वारा उठाए गए प्रश्नों का सामना करने की बजाय पुस्तक को ही दरकिनार कर दिया गया। (Guha, 1994, 3)

इस विकासवाद का असर दूसरे समाज विज्ञानों पर भी दिखाई देता है। एक हद तक मानवशास्त्र को अपवाद कहा जा सकता है, जो शुरु तो यूरोप के श्वेत 'सभ्य' मनुष्य द्वारा 'असभ्य' या अविकसित सभ्यताओं के अध्ययन के लिए हुई था, मगर उसने कम से कम प्रकृति व मनुष्य के वैकल्पिक या ज्यादा प्रगाढ़ संबंधों के बहुतेरे दृष्टांत जमा किए। गैर-यूरोपीय व खास कर आदिवासी समुदाय प्रकृति के साथ कैसे रहते हैं, इस पर मानव विज्ञान ने काफी काम किया है। हालांकि पारिस्थितिक मानव विज्ञान समाज विज्ञानों के पर्यावरणीय मोड़ के साथ ही 1960 के बाद ही विकसित हुआ, मगर सांस्कृतिक मानव विज्ञान ने भी गैर-यूरोपीय समाजों के प्रकृति के साथ संबंधों के काफी पहलुओं को उकेरा था।

मगर समाजशास्त्र ने समाज और प्रकृति के संबंधों की खासी उपेक्षा की है। इसकी एक वजह यह है कि समाजशास्त्र के शास्त्रीय सिद्धांत यूरोप के समकालीन औद्योगिक समाज के अध्ययन से निकले हैं। रामचंद्र गुहा के अनुसार आम तौर पर समाज विज्ञानी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज के चार आयामों पर काम करते हैं— अर्थव्यवस्था, राजनीति, सामाजिक संरचनाएं और संस्कृति। अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, वितरण और आबंटन के प्रश्न या राजनीतिक अर्थशास्त्र के नजरिए से देखें तो उत्पादन शक्ति व संबंध के प्रश्न लिए जाते हैं। राजनीति के तहत विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सत्ता व प्राधिकार के संबंधों, खास तौर पर राजसत्ता व कानून से जुड़े हुए, का अध्ययन किया जाता है। सामजिक संरचनाओं में परिवार, नातेदारी, जाति, नौकरशाही जैसी सामाजिक व्यवस्थाओं, संस्थाओं व स्तरीकरणों का अध्ययन किया जाता है। वहीं संस्कृति में सामूहिक आत्माभिव्यक्ति के विशिष्ट रूपों (जैसे संगीत, कला, अनुष्ठान आदि) के साथ ही सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले विचारों, विचारधाराओं व मूल्यों का अध्ययन किया जाता है। मगर इस चार आयामी वर्गीकरण के जरिए समाज विज्ञान ने एक और पाँचवे आयाम की लंबे समय तक उपेक्षा की, वह है मानव समाज की पारिस्थितिक आधार-संरचना या इन्फ्रास्ट्रक्चर। इसमें जमीन, जल, वनस्पति जगत, जीव जंतु जगत, आबोहवा आदि शामिल हैं। (Guha, 1994, 4)

इसी तरह राजनीति विज्ञान ने भी प्रकृति व पर्यावरण से उपजे राजनीतिक प्रश्नों को संबोधित करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। राजसत्ता व लोकतंत्र को विकास के लिए विज्ञान के साथ अनुबंधित मानने की पूर्व-मान्यता राजनीति विज्ञान पर काफी असर डालती है। प्राकृतिक संसाधनों की राजनीति तक पर राजनीति विज्ञान का ध्यान काफी देर से और आधे-अधूरे तरीके से गया है। गुहा कहते हैं कि मनुष्य अपनी संस्कृति की क्षमता के चलते धरती के जीवों में विशिष्ट जरूर है, मगर वह कहीं प्रकृति से अलग या ऊपर नहीं खड़ा है। यह सही है कि एक हद तक सामाजिक तथ्यों की दूसरे सामाजिक तथ्यों की मदद से व्याख्या की जा सकती है। मगर कई बार सामाजिक तथ्यों को तभी ठीक से समझा जा सकता है, जब उन्हें उस प्राकृतिक पर्यावरण के संदर्भ में रखा जाए, जिनमें वे अन्य जीवों की तरह ही रहते, बचते और संतति निर्माण करते हैं। पारिस्थितिक आधार-संरचना मनुष्य के सभी आयामों को प्रभावित करती है, वहीं मानवीय हस्तक्षेप भी प्राकृतिक पर्यावरण में तबदीली करता है। इसलिए जैविक-भौतिक व सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों की अंतर्निभरता को स्वीकार कर नई तरह की शोध कार्यसूची बनाई जानी चाहिए। (Guha, 1994, 5)

## II

### समाज विज्ञान और पर्यावरण के सरोकार

आज समाज विज्ञान व मानविकी दोनों में ही ऐसी धाराएं भी आ गई हैं, जो प्रकृति व समाज के द्वैत से बाहर निकलने की सायास कोशिश कर रही हैं। इसके चलते अनुशासन नए ढंग से रूपायित हो रहे हैं। सामाजिक पारिस्थितिकी, पर्यावरणीय समाजशास्त्र, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकीय मानवशास्त्र जैसे

कई नए अनुशासन पर्यावरण-संवेदी हैं। समाज विज्ञानों से ज्यादा अंतर-अनुशासनिक होने की अपेक्षा की जा रही है। प्रत्यक्षवाद व अनुभववाद की तथ्यात्मक अध्ययन-पद्धतियों की अपर्याप्तता सामने आने से साहित्य के ज्ञानात्मक पहलुओं की तरफ भी ध्यान गया है। मगर इसके बावजूद यह मोड़ अब तक समाज विज्ञानों की मुख्य धारा को बदलने में कामयाब नहीं हुआ है, जो बदस्तूर मानव-केंद्रित बनी हुई है।

**समाज विज्ञान में पर्यावरणीय संवेदनशीलता की शुरुआत :** धरती की पारिस्थितिक तबाही की तरफ 1960 के दशक से विकसित देशों का ज्यादा ध्यान जाना शुरू हुआ। यही वह समय था जब प्रकृति-केंद्रित प्राचीन व नए दर्शनशास्त्रों व सिद्धांतों ने सार्वजनिक दायरे में नया महत्त्व पाना शुरू किया। इसी दौरान पश्चिम व भारत समेत दुनिया के बाकी हिस्सों में भी कई पर्यावरणीय आंदोलन खड़े हुए, जिनकी तरफ समाज विज्ञान का ध्यान गया। अमेरिका व यूरोप में विकास की विचारधारा के बोलबाले के विपरीत असर सार्वजनिक जीवन में दृष्टिगोचर होने लगे थे। यहां समाज विज्ञान वित्त व सांस्थानिक विशालता, दोनों स्तर पर खासे मजबूत थे। यहां के समाज विज्ञान जगत पर सत्तर के दशक में हुई दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं का प्रभाव पड़ा। वर्ष 1972 में मानव पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र का सम्मेलन स्टॉकहोम में आयोजित हुआ था। यह वैश्विक स्तर पर पर्यावरण के सरोकार के उभरने की शुरुआती घटनाओं में से एक थी।

स्टॉकहोम घोषणा में संसाधनों के पुनर्नवीकरण के धरती के सामर्थ्य को बरकरार रखने, वन्यजीवन को बचाने, प्रदूषण के स्तर को नियंत्रण में रखने, इन सब के लिए विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देने और विकास की एकीकृत योजनाएं बनाने जैसे कदमों का आह्वान किया गया था। इसके बाद से कई देशों में पर्यावरण मंत्रालय और तमाम नियामक संस्थाएं अस्तित्व में आनी शुरू हुई। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी 1983 में पर्यावरण और विकास पर विश्व आयोग का गठन जिसे बुन्ड्टलैंड आयोग के नाम से भी जाना जाता है। इस आयोग की रिपोर्ट ने टिकाऊ विकास के विचार के प्रसार में योगदान दिया। इसने वर्ष 2000 और उसके बाद टिकाऊ विकास के लक्ष्यों को तय करने और पाने की रणनीतियां प्रस्तावित कीं और इसके लिए विकास के अलग-अलग स्तरों के देशों के बीच सहयोग के तंत्र विकसित करने का प्रस्ताव किया।

सत्तर व अस्सी के दशक में ही समाज वैज्ञानिक पर्यावरण के मुद्दों और इनके लिए जरूरी नीतियों से दोचार होने लगे। धीरे-धीरे पर्यावरणीय समाजशास्त्र, सामाजिक पारिस्थितिकी, पर्यावरणीय अर्थशास्त्र जैसी नई धाराएं उभरने लगीं, जिनके गिर्द पर्यावरण के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक आदि आयामों से जुड़े शोध कार्य सामने आने लगे। अस्सी के दशक तक भारत में भी समाज विज्ञान के अनुसंधानों, प्रकाशनों व संगोष्ठियों में पर्यावरण का विमर्श दिखाई देने लगा। भारत में सत्तर व अस्सी के दशकों में हुए चिपको, साइलेंट वैली जैसे आंदोलनों और नई वन नीति, वन्यजीव नीति, पर्यावरण नीतियों का भी असर समाज विज्ञानों पर पड़ना शुरू हुआ।

**पारिस्थितिक विमर्श :** प्रकृतिवादी नजरिया निश्चित ही काफी पुराना है, जिसकी जड़ें औद्योगिक युग के पहले की संसाधन-उपयोग की पद्धतियों में थी। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के पाठ विशेष रूप से एशियाई परंपराओं में वेदों, उपनिषदों, बौद्ध सूत्रों, से लेकर ताओ व लाओत्जे तक फैले हुए हैं। ग्रीक परंपरा में प्रकृतिवाद और मानव-केंद्रिकता दोनों मिलते हैं। मगर आधुनिक युग में प्रकृति को किसी यंत्र की तरह देखने और बरतने की समझ सामने आती है, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि न्यूटन, देकार्त, बेकन आदि हैं। अठारहवीं सदी में विज्ञानवाद के विरोध में साहित्य व कला के भीतर प्राकृतिक रोमानवाद का दौर भी आता है, वहीं बुद्धि व तर्क के मनुष्य के भावनात्मक, कल्पनात्मक व आत्मिक पक्षों पर हावी जाने का विरोध पश्चिमी दर्शन के भीतर ही खड़ा हो जाता है। हालांकि इन प्रकृतिवादी रूझानों का पश्चिम के विकासवादी महा-अभियान पर कोई खास असर नहीं पड़ा।

मगर जब विज्ञान के भीतर ही एक अनुशासन परिस्थिति विज्ञान पैदा हो गया और उसने धरती पर जीवन की गुणवत्ता के लगातार गिरने और भविष्य में धरती के तबाह हो जाने से जुड़े वैज्ञानिक अध्ययनों को पेश किया तो पश्चिम में कुछ हलचल मचने लगी। आधुनिकता के औजारों की मदद से ही परिस्थिति विज्ञान ने आधुनिकता की विश्वसनीय आलोचना पैदा की। परिस्थिति तंत्र के सिद्धांत में भौतिकी, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान की दृष्टियां एकीकृत हो जाती हैं। परिस्थिति का विज्ञान जहां एक तरफ वैज्ञानिक प्रति-आधुनिकता को बढ़ावा देता है और विकासवाद को प्रश्नांकित करता है, वहीं अंततः विज्ञान होने के नाते यह समस्या के प्रौद्योगिक समाधान के रास्तों को भी खोलता है। (Sachs, 1997, 40-41)

मगर पारिस्थितिकी जहां एक विज्ञान है, वहीं यह दुनिया को देखने का एक नजरिया और सरोकार भी बन कर उभरी है। इसलिए परिस्थिति विज्ञान व परिस्थिति दर्शन के अंतर को समझा जाना जरूरी है। पारिस्थितिकी उन्नीसवीं सदी के पहले दो दशकों में ही विश्वविद्यालयों, जर्नलों व पेशेवर समूहों की दुनिया तक पहुंच पाई। मगर 1960 के बाद से पारिस्थितिकी विश्वविद्यालयों के विज्ञान विभागों की चौहद्दी को लांघकर सार्वजनिक विमर्शों का हिस्सा बन गई। परिस्थिति तंत्र की अवधारणा समावेशी है, जिसमें वनस्पति व जीव-जंतु ही नहीं अजीव पदार्थों, चीजों की दुनिया भी आती है। यह अवधारणा बिखरे हुए को जोड़ने व पूर्ण के प्रति सरोकार को ही नहीं बल्कि नैतिक शक्ति और सौंदर्यात्मक पूर्णता को भी अभिव्यक्त करती है। (Sachs, 1997, 41-43)

**पर्यावरण का बहुआनुशासिक और अंतर्विषयक अध्ययन :** आज कोई भी सजग समाज विज्ञानी पर्यावरण की समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्लिंटमैन के अनुसार समाज से पर्यावरण के सरोकार तीन वजहों से आज ज्यादा करीबी रूप से जुड़े हुए हैं। पहली वजह है कि आज आधुनिक समाज की ज्यादातर गतिविधियां धरती के पारिस्थितिक संतुलन को नुकसान पहुंचा रही हैं। इनमें ऊर्जा के उपयोग के सामाजिक रूप, उपभोग, परिवहन जैसे क्षेत्र शामिल हैं। दूसरी वजह है मौजूदा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाएं व्यक्तिगत अजनबियत, आर्थिक विषमता, सामाजिक विभाजन, लोकतंत्र के क्षरण जैसी समस्याओं को बढ़ा रही हैं, जिनका विपरीत असर पारिस्थितिक तंत्र पर पड़ता है। तीसरी वजह यह है कि सभी पर्यावरणीय समस्याएं सामाजिक रुझानों का प्रतिफल हैं। (Klintman, 2000, 46)

1980 के बाद से विभिन्न समाज विज्ञानों में पर्यावरण से जुड़ी हुई कई नई विषय-वस्तुएं आई हैं। मसलन पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने में उद्योगवाद की भूमिका, शहरीकरण, भूमंडलीकरण, पर्यावरणीय आंदोलन, प्रदूषण की राजनीति, संसाधनों पर टकराव, वन्यजीवन व मनुष्य, वानिकी का इतिहास, सूखा व बाढ़ का समाजशास्त्र, लोक जल प्रबंधन बनाम राजसत्ता, हरित राजनीति के मुद्दे और दिशा, पर्यावरण विमर्श और राजनीतिक दल, संस्थाएं व मीडिया, टिकाऊ विकास का अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र, पर्यावरण और मानवाधिकार, पर्यावरण और लोकतंत्र, पर्यावरणीय शिक्षा आदि। एक बड़ा प्रन यह है कि सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संरचनाएं और संस्कृतियां कैसे संसाधनों के उपयोग और पर्यावरण को प्रभावित करती हैं। साथ ही यह भी कि प्रकृति के प्रति रवैया कैसे समाज व संस्कृति को प्रभावित करता है।

समाजशास्त्र के भीतर ही पर्यावरण के समाजशास्त्र की विशिष्ट धारा धीरे-धीरे जड़ जमा रही है। इसी तरह पारिस्थितिक अर्थशास्त्र और पर्यावरणीय अर्थशास्त्र के अनुशासन अर्थशास्त्र के भीतर से ही निकले हैं। जाहिर है कि ये नए अनुशासन अपनी पद्धति व दृष्टिकोण में ज्यादा अंतर्विषयक हैं। ये एक से ज्यादा विषयों की पद्धति व सामग्री का उपयोग करते हैं। पारिस्थितिक और पर्यावरणीय अर्थशास्त्र में अंतर यह है कि

पहला आर्थिक गतिविधियों को पारिस्थितिक संतुलन की दृष्टि से देखता है और सामाजिक पूँजी से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक पूँजी को मानता है, वहीं दूसरा अर्थशास्त्र की मान्यताओं के भीतर ही पर्यावरणीय समस्याओं का अध्ययन करता है।

पारिस्थितिक मानवशास्त्र वहीं मानवशास्त्र की सांस्कृतिक पारिस्थितिकी की परंपरा का ही विस्तार है। यह पर्यावरण के साथ मनुष्य की सांस्कृतिक अंतर्क्रिया व समायोजन को अध्ययन के केंद्र में रखता है, इसलिए इसका प्रमुख प्रश्न यह है कि गैर-यूरोपीय मनुष्य किस तरह अपने जैविक-भौतिक पर्यावरण के साथ खुद को ढालता है और इसमें उसकी सांस्कृतिक मान्यताएं व व्यवहार क्या भूमिका निभाते हैं। पर्यावरणीय अपराधशास्त्र अपेक्षाकृत नया विषय है। यह पारिस्थितिक हिंसा को अपराध मानते हुए पारिस्थितिक हादसों, तबाहियों की आपराधिक जिम्मेदारी, उसके मनोविज्ञान व न्यायशास्त्रीय पक्षों की विवेचना करता है। यह जैविक तस्करी, रेडियोधर्मी कचरे को चोरी-छिपे निपटाने, समुद्री जीव-जंतुओं से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय अपराधों की विवेचना भी करता है।

इसके अलावा नए अनुशासन या विषय भी सामने आ रहे हैं, जो अकसर एक से ज्यादा विषयों के ज्ञान पर आधारित होते हैं। कई जगह पर्यावरण अध्ययन जैसे व्यापक विषय के तहत भी अंतर्विषयक अध्ययन व अनुसंधान हो रहे हैं। सामाजिक पारिस्थितिकी, राजनीतिक पारिस्थितिकी, मानव पारिस्थितिकी, नारीवादी पारिस्थितिकी आदि बहुआनुशासिक विषय हैं। सामाजिक पारिस्थितिकी दरअसल जैविक पारिस्थितिकी, मानव पारिस्थितिकी, समाजशास्त्र, पारिस्थितिक मनोविज्ञान, प्रणाली सिद्धांत आदि अनुशासनों का मेल है। यह मनुष्य व पर्यावरण के रिश्तों के सामाजिक, सांस्थानिक, सांस्कृतिक आयामों का अध्ययन करती है। मानव पारिस्थितिकी मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, जीव विज्ञान आदि कई विषयों के बीच स्थित है। इसके व सामाजिक पारिस्थितिकी के ज्यादातर सरोकार एक जैसे हैं।

राजनीतिक पारिस्थितिकी मुख्य रूप से राजनीतिक दृष्टि से पर्यावरण के मुद्दों का अध्ययन करती है। इसकी अंतर्विषयक दृष्टि पारिस्थितिक ज्ञान को राजनीतिक अर्थशास्त्र और राजनीतिक सिद्धांतों के साथ जोड़ती है। यह राजनीतिक दलों, पर्यावरणीय मुद्दों, उजागर पारिस्थितिक टकरावों का अध्ययन तो करती ही है, साथ ही मानकर चलती है कि हर पारिस्थितिक व पर्यावरणीय मसला दरअसल सत्ता व शक्ति संबंधों के अधीन होने के चलते एक राजनीतिक मसला है। इस नजरिए से यह प्रौद्योगिकी की राजनीति का अध्ययन भी करती है।

**आत्म-समीक्षा की चुनौती :** प्रकृति विज्ञान के पारिस्थितिक तंत्र को लेकर किए गए अध्ययनों के सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनने के बाद से इस बात को ज्यादा से ज्यादा स्वीकारा जाने लगा है कि पारिस्थितिक समस्याओं को सामाजिक समस्याओं के रूप में ही देखा जाना चाहिए, क्योंकि ये मनुष्य के हस्तक्षेप के चलते पैदा हो रही हैं। मनुष्य प्रकृति से कैसा व्यवहार करते हैं और सामाजिक प्रक्रियाओं के तहत एक-दूसरे से कैसा व्यवहार करते हैं, ये दोनों बातें भी आपस में जुड़ी हुई हैं। इसलिए आज के बाजार-केंद्रित, उपभोगवादी, प्रतियोगी और विलगावपूर्ण सामाजिक संबंधों की भी नए सिरे से पड़ताल समाज विज्ञानों के एजेंडे में है।

निश्चित ही एक शहरी उपभोक्ता मनुष्य के लिए प्रकृति के प्रति अपना नजरिया बदलना बेहद मुश्किल है और ज्यादातर समाज वैज्ञानिक अपनी पेशेवर जिंदगी और मध्यवर्गीय वेतन व अरमानों के चलते शहरी उपभोक्ता मनुष्य ही हैं। इस व्यक्ति की जीवन शैली में प्रकृति से जुड़ने का अवकाश बहुत कम है। यदि वह प्रकृति से जुड़ने की कोशिश करता भी है तो यह विकास व प्रगति जैसी अवधारणाओं के इर्द-गिर्द बुनी गई पूर्व-मान्यताओं के चलते निष्फल साबित होती है।

इसलिए सबसे बड़ा प्रश्न यही है कि समाज विज्ञान अपनी ही मानव-केंद्रिकता की आत्मालोचना में शरीक कैसे हों? समाज वैज्ञानिकअपनी पूर्व-मान्यताओं और दृष्टिकोण की समीक्षा को ज्यादा गंभीरता से ले सकते हैं, अगर वे पारिस्थितिक व पर्यावरणीय मुद्दों तथा आंदोलनों के प्रति संवेदनशील हों; दूसरे, अगर वे अपने रुझान में ज्यादा अंतर्विषयक व बहुआनुशासिक हों; तीसरे, वेदर्शन व सिद्धांत की ताजा बहसों से राब्ता बनाए रखते हों। विशेष रूप से वे समाज वैज्ञानिक जो पारिस्थितिक दर्शन व पर्यावरणीय नैतिकता जैसे सिद्धांतों से दो-चार होते हों।

समाज विज्ञान के पर्यावरण के प्रति संवेदनशील होने के दो तरीके हो सकते हैं। एक तो पारिस्थितिक मुद्दों व समस्याओं के सामाजिक व सांस्कृतिक आयामों पर अनुसंधान व अध्ययन को बढ़ावा देते हुए, दूसरे पारिस्थितिक सरोकारों के आधार पर समाज विज्ञान की मान्यताओं, दर्शन, अध्ययन पद्धति, पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रमों और अध्ययन सामग्रियों की समीक्षा करते हुए, ताकि ये सरोकार समाज विज्ञान के दृष्टिकोण में ही एकीकृत हो सकें।

क्या समाज विज्ञानों के रवैये और दृष्टि में आमूल बदलाव आ सकता है? यह समाज विज्ञान के भविष्य से ही नहीं बल्कि मानव समाज के भविष्य से भी जुड़ा प्रश्न है। आदित्य निगम पूछते हैं कि अगर हम अब तक पारिस्थितिकी को अर्थव्यवस्था का उप-खंड मान कर चलते थे, जिसका सीधा मतलब मानव उपभोग के लिए उसका 'प्राकृतिक संसाधनों' के रूप में उपलब्ध होना है, तो क्या आज हम इससे उलट जा सकते हैं, यानी अर्थव्यवस्था को पारिस्थितिकी का उप-खंड बना सकते हैं। 2500 से ज्यादा अर्थशास्त्रियों का कार्बन कर लगाने का प्रस्ताव इसी दिशा में उठाया गया एक कदम है। (Nigam, 2011) यह प्रस्ताव उम्मीद करता है कि समाज अपने पारिस्थितिक हितों की रोशनी में अपने आर्थिक हितों की एक वास्तविक समीक्षा का प्रयास करेगा। कवि, कथाकार व उपन्यासकार काफी पहले से प्रकृति की आवाज सुनने की कोशिश कर रहे हैं। क्या समाज वैज्ञानिक भी अपने श्रवण को ऐसा बना सकते हैं कि उन्हें प्रकृति से आ रही आवाजें सुनाई देना शुरू हो जाएं ?

*भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्*
*क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भोपाल (म.प्र.) 462002*

**सन्दर्भ -**

*गाडगिल, माधव और गुहा, रामचंद्र, ''यह दरकती जमीन : भारत का पारिस्थितिकीय इतिहास'', अनुवाद- कमल नयन चौबे, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2018.*

*हरारी, युवाल नोआ, ''सेपियन्स : मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास'', अनुवाद- मदन सोनी, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, 2018.*

*Afonso, AV, "Social Versus Natural: An Image of 'Social' Science," Summerhill Review, Vol- 10, No- 1 & 2, 2004-*

*Bhaskar, Roy, "The Possibility of Naturalism: A Philosophical Critique of the Contemporary Human Sciences,"Routledge, London] 1979-*

*Boddice, Rob (ed-), "Anthropocentrism: Humans, animals, environments", Brill, Lieden, 2011.*

*Burkett, Paul, "Marx and Nature: A Red and Green Perspective", Haymarket Books, Chicago, 2014.*

*Burningham, Kate and Cooper, Geoff, "Being Constructive: Social Constructionism and the Environment", Sociology, Vol- 3, No- 2, May 1999.*

*Dunlap] R- E- and Catton, W. R. Jr-,"Towards an Ecological Sociology: the Development, Current Status and Probable Future of Environmental Sociology", the Annals of the International Institute of Sociology, 3 (New Series), 1992-*

*Forsyth, Tim, 'Critical realism and political ecology', in Stainer, A- and Lopez, G- (eds) "After postmodernism: critical realism", Athlone Press, London, 2001.*

*Foster, JB, "Marx's Ecology: Materialism and Nature", Monthly Review Press, New York, 2000. Guha, Ramchnadra, 'Introduction' in "Social Ecology", edited by Guha, Ramchandra, Oxford University Press, New Delhi, 1994.*

*Hannigan, John, "Environmental Sociology", Routledge, London, 1995*

*Klein, Jørgen,"Social Constructivism and Environmental Problems– Epistemological Challenges", Nordisk Samhällsgeografisk Tidskrift, 33, 2002.*

*Klintman, Mikael, "Utility Sectors in Sweden—Swedish National Policy Report", Oct-, 1998.*

*Klintman, Mikael, "Nature and the Social Sciences: Examples from the Electricity and Waste Sectors", Department of Sociology, Lund University, 2000.*

*Lövbrand, Eva, Stripple, Johannes, and Wiman-Bo, "Earth system governmentality: Reflections on science in the Anthropocene", Global Environmental Change 19-1, 2009.*

*Nash, Roderick Frazier, "The rights of nature: A history of environmental ethics", University of Wisconsin Press, Madison, 1989.*

*Nigam, Aditya, "Desire Named Development", Penguin Books, New Delhi, 2011.*

*Sachs, Wolfgang, 'Environment' in "The Development Dictionary: A Guide to Knowledge as Power", edited by Sachs, Wolfang, Orient Longman, Hyderabad, 1997.*

*Shiva, Vandana, 'Resources' in "The Development Dictionary: A Guide to Knowledge as Power", edited by Sachs, Wolfang, Orient Longman, Hyderabad, 1997.*

*Visvanathan, Shiv, "A Carnival for Science: Essays on Science, Technology and Development", Oxford University Press, New Delhi, 1997.*

# अभिनिवेश (मृत्यु का भय) : चिन्ता से प्रामाणिकता तक

*पंकज बासोतिया*

मृत्यु का भय एवं मृत्यु से जुड़े हुए शोक की अभिव्यक्ति भले ही संस्कृति-सापेक्ष हो किन्तु न केवल मनुष्य वरन् प्राणी मात्र में इनकी उपस्थिति निर्विवाद है। सामान्यतः जब भी मानवीय-मनोभावों को सकारात्मक एवं नकारात्मक कोटियों में विभाजित किया जाता है तो भय, शोक आदि को नकारात्मक कोटि में ही रखा जाता है, किन्तु भारतीय परंपरा में कतिपय स्थानों पर इसका विपरीत भी देखा जा सकता है। प्राचीन भारतीय रस-सिद्धांत में, काव्य एवं नाट्य की विशेष दृष्टि से तथाकथित नकारात्मक भाव भी, श्रोता या दृष्टा के भीतर उसी प्रकार से रस रुपी आनन्द का संचार करते है, जिस प्रकार सकारात्मक भाव।[1] श्रीमद्भागवत में कुन्ती द्वारा भगवान् से की गई वह प्रार्थना पहले से ही प्रसिद्ध है जिमसें कुन्ती, ईश्वर से एक के बाद एक अनेक कष्टों/दुःखों की प्रार्थना करती है, जिससे निरन्तर भगवान का स्मरण बना रहे।[2] विज्ञान-भैरव एवं तंत्र के कतिपय अन्य ग्रन्थों में भी यह उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार मनुष्य इन सकारात्मक भावों से भी आध्यात्म की उच्चतम भूमि पर आरूढ़ हो सकता है। पातंजल योग सूत्र के अनुसार भी तीव्र संवेग वाले के लिए योग समीप ही होता है। (तीव्र संवेगानाम आसन्नः पा.यो. सूत्र 1.21)। इस प्रकार सामान्यतया नकारात्मक मनोभावों की कोटि में रखेजाने वाले मनोंभावों के संदर्भ में भारतीय परंपरा में ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जहां उनकी सकारात्मकता पर जोर दिया गया है। किन्तु यहां हमारा उद्देश्य इतना अधिक विस्तृत न होकर अपेक्षाकृत सीमित ही है। यहां हमारा उद्देश्य सिर्फ प्राचीन भारतीय चिंतन परंपरा के कुछ ऐसे विशेष प्रकरणों पर विचार करना है जहां मृत्यु से जुड़ा हुआ भय एवं शोक दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि मृत्यु के भय का उल्लेख वेद एवं उपनिषद् में भी मिलता है किन्तु एक विशेष एवं भिन्न कोटि के रूप में इसे पांतजल योग सूत्र में अभिनिवेश का नाम दिया गया है। अविद्या, अस्मिता, राग व द्वेष के साथ-साथ अभिनिवेश भी एक क्लेश है।[3] इसे ही क्षीण करना एवं चित्त को समाधि में ले जाना योग का उद्देश्य है।[4] यहां समाधि का उल्लेख एक भावना के रूप में किया गया है, जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि क्लेशों को पूर्ण रूप से मिटा दिए जाने या नष्ट कर दिए जाने का उल्लेख न होकर, सिर्फ उन्हें क्षीण या ढीला करने का ही उल्लेख है।[5] राग, द्वेष, मन में उठने वाले (single emotions) न होकर चित्त में सुख एवं दुःख के प्रति रहने वाली भावनात्मक प्रवृतियों के नाम हैं। राग, सुख का अनुशय करने वाला है, जबकि द्वेष दुःख का।[6] इन राग, द्वेष आदि प्रवृतियों का मूल कारण है - दृष्टा एवं दृश्य शक्ति को एक ही समझना (अस्मिता)[7] जो कि ममत्व और अहमत्व को उत्पन्न करती है। जबकि अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्म में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा को समझना ही अविद्या है।[8] यह अविद्या ही अन्य चारों की उत्पत्ति की

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 69-74*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

भूमि है, जो प्रसुप्त तनु, विछिन्न और उदार अवस्था में रहते हैं।[9] जिस प्रकार भूमि में रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविद्या के क्षेत्र में रहकर सब क्लेश बंधनरूपी फल देते हैं। जो क्लेश चित्त भूमि में अवस्थित हैं, पर अभी जागे नहीं, क्योंकि अपने विषय आदि के अभावकाल में अपने कार्यों को आरंभ नहीं कर सकते, वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जैसेः- वे वासनाएं वाल्यावस्था में जो दबी रहती हैं किन्तु युवावस्था में जागृत होकर अपना फल दिखलाती हैं। यहां यह जानना रूचिकर है कि मृत्यु का भय कब प्रसुप्त होता है एवं कब जागृत? क्या बच्चों में मृत्यु का भय होता है ? तो निश्चित है कि चोट की संवेदना एवं उससे होने वाले दुःख के प्रति शिशु में भी जागरूकता और भय होता है, किन्तु वह एक खुला प्रश्न ही है कि बच्चों में मृत्यु का भय किस प्रकार एवं किस समय जागृत होता है?मृत्यु संबंधी ज्ञान एवं जानकारी बच्चे किस प्रकार एवं किस अवस्था में विकसित करते हैं?क्या पहले उनमें अपने निकट स्थित संबधियों की मृत्यु का भय विकसित होता हैं? और फिर स्वयं अपनी मृत्यु का भय या फिर यह इसके विपरीत क्रम से होता हैं? ध्यान से विचार करने पर यह भय भी एक सरल अवस्था प्रतीत न होकर, एक जटिल एवं व्यापक भावनात्मक अवस्था ही प्रतीत होती है, ऐसे में यह विचारणीय है कि इसके सरल अंग कौन से हैं, वे कौन सी भावनाएं हैं जिनसे मिल कर या जिनके आधार पर भय की अवस्था सृजित होती है? क्या पहले के चारों क्लेश (अविद्या, अस्मिता एवं राग, द्वेष) वे पूर्व अवस्थाएं हैं, जिनके बिना अभिनिवेश संभव नहीं है? अर्थात् क्या अभिनिवेश के होने से पूर्व इन चारों का होना अनिवार्य है? इन पांचों क्लेशों का परस्पर संबंध क्या पुर्वापर एवं चक्राकार है एवं क्या इनके क्रम का उल्लंघन संभव है?

**तनु -** वे क्लेश हैं जो प्रतिपक्षभावना के द्वारा अथवा क्रियायोग आदि के द्वारा शिथिल कर दिए गए हैं, इस कारण वे विषय के होते हुए भी अपने कार्य के आरंभ में समर्थ नहीं होते, शान्त रहते हैं। किन्तु सूक्ष्मरूप से इनकी वासनाएं चित्त में बनी रही हैं। इन्हें निम्न प्रकार से शिथिल (तनु-सूक्ष्म) किया जाता है - यर्थार्थ ज्ञान के अभ्यास से अविद्या को, भेद दर्शन के अभ्यास से अस्मिता को, मध्यस्थल रहने के विचार से राग-द्वेष को, ममता के त्याग से अभिनिवेश-क्लेश को तनु किया जाता है तथा धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सभी क्लेशों को तनु किया जाता है।

**विच्छिन्न -** यह क्लेशों की वह अवस्था है, जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान् क्लेश से दबे हुए शक्तिरूप से रहे हैं और उसे अभाव में वर्तमान हो जाते हैं। जैसेः- द्वेष-अवस्था में राग छिपा रहता है और राग-अवस्था में द्वेष।

**उदार -** यह क्लेशों की वह अवस्था है, जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवृत हो रहे हैं, जैसे व्युत्थान अवस्था में साधारण मनुष्यों में होते हैं। यहां इस पर भी विचार किया जा सकता है कि अभिनिवेश की प्रतिपक्ष भावना के रूप में पातंजल योग प्रदीप, ममता के त्याग को स्वीकार करता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ''तत्वलीनों के क्लेश प्रसुप्त, योगियों के तनु और विषयी पुरूषों के क्लेश विच्छिन्न एवं उदार अवस्था वाले होते हैं।''

*प्रसुप्तास्तत्वलीनानां तन्ववस्थाश्य योगिनाम्।*
*विछिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसाडिनाम्।।*

**अभिनिवेश -** इसकी विशेष चर्चा करते हुए, पातंजल योग सूत्र के साधनपाद के सूत्र-9 में उसे स्वरसवाही एवं विदुषों पर भी आरूढ़ कहा गया है - *स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभिनिवेशः। पा.यो. सूत्र 2.9*

अर्थ - ''स्वयं अपने आप से ही प्रवाहित होने वाला एवं जो विदुषों पर भी आरूढ़ रहता है, वह अभिनिवेश है।''

**अभिनिवेश का अर्थ है -**

(अभि-अच्छे प्रकार से, नि-नीचे (गहरा), वेश - अन्दर जाना) इस प्रकार अभिनिवेश का अर्थ है - ''जो मनुष्य के चित्त में अत्यंत गहराई में उतरा हुआ है।'' अभिनिवेश का शाब्दिक अर्थ एवं उपरोक्त सूत्र इस ओर संकेत करते हैं कि मृत्यु का भय, मानवीय अस्तित्व में गहराई तक सन्निविष्ट है, वह स्वरसवाही है अर्थात् स्वभाव से ही प्रत्येक मनुष्य में रहता है, कोई भी मनुष्य, इस भय का अपवाद नहीं है। प्रतिप्रसव, ध्यान एवं प्रतिपक्ष-भावना के द्वारा इन क्लेशों को क्षीण अथवा दुर्बल किया जा सकता है।'' प्रतिप्रसव का अर्थ है बाद के क्लेश को उससे पूर्व के क्लेश में विलीन करना। ध्यान के द्वारा विचार, राग, द्वेष व अभिनिवेश आदि वृत्तियों का चित्त में उठना रूक जाता है, यही परिणाम प्रतिपक्ष-भावना द्वारा भी प्राप्त होता है। यहां यह महत्वपूर्ण है कि बाद के विचार में अभिनिवेश की प्रतिपक्षभावना के रूप में त्याग को स्वीकार किया गया है। यह क्लेश ही मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले कर्मों का मूल है, जिन्हें वह अपने वर्तमान एवं अगले-पिछले जन्म में अनुभव करता है।'' इन्हीं के मूल का विपाक जाति (जन्म), आयु एवं भोग के रूप में सामने आता है।[12] इन्हीं से मनुष्य को पुण्य के फल के रूप में आह्लाद एवं पाप के फल के रूप में परिताप प्राप्त होते हैं।[13] इस प्रकार परिणाम, ताप एवं संस्कार के कारण भी दुःख ही उत्पन्न होता है। अतः योग सूत्र के अनुसार साधारण जीवन में, विवेकी मनुष्य के लिए, संर्वत्र दुःख ही दुःख है।[14]

| | | |
|---|---|---|
| क्लेश - कर्म - जाति (विपाक) - पुण्य (आह्लाद) - पुण्य (आह्लाद) - दुःख | | |
| अविद्या | आयु | पाप (परिताप) |
| अस्मिता | भोग | |
| राग द्वेष | | |
| अभिनिवेश | | |

इन्हीं क्लेश रूपी कर्मों एवं दुःख की आत्यन्तिक निवृति विवेक ख्याति द्वारा होती है एवं योगी को अनन्त ज्ञान और कैवल्य प्राप्त होता है। योगसूत्र में की गई अभिनिवेश की इस चर्चा में उसके प्रतियोगी भाव के रूप में आशिष् की भी कल्पना की गई है। जहां अभिनिवेश का अर्थ है - मृत्यु का भय, वहीं आशिष् का अर्थ है- अस्तित्वमान रहने की इक्छा। (आस् - होना, अस्तित्व रहना, जीना/इष् - ईच्छा करना) - तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। (पा. यो. सूत्र 4.10)

इस पूरे संदर्भ में चर्चा को अनेक प्रकार से आगे बढ़ाया जा सकता हैं, उदाहरण के लिए एक ओर तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनिवेश आदि क्लेशों का मूल अविद्या है, अर्थात् अविद्या के बिना अन्य क्लेश संभव नहीं हैं, दूसरी ओर अभिनिवेश को स्वरसवाही कहा गया है। ग्रंथ के सूत्रात्मक होने से एक कठिनाई यह भी उत्पन्न होती हैं कि अनेक ऐसी बातें, जिनकी चर्चा विस्तार से अपेक्षित है, वह नहीं हो पाती जैसेः- क्लेशों के विभिन्न प्रकारों (प्रसुप्त, तनु, विछिन्न एवं उदार) को अभिनिवेश के संदर्भ में ठीक-ठीक किस प्रकार से लागू किया जा सकता है, वह अधिक स्पष्ट नहीं है।

इस पूरे संदर्भ में यह भी रूचिपूर्ण है कि यद्यपि, योगसूत्र ने क्लेशों में मृत्यु के भय को तो स्थान दिया हैं किन्तु मृत्यु से उत्पन्न होने वाले शोक एवं चिन्ता का यहां कोई संदर्भ नहीं है, यह इसलिए भी महत्वपूर्ण भी हो जाता है कि भारतीय दर्शन के अन्य अनेक ग्रंथ स्वयं की एवं अपने निकटस्थों की मृत्यु से, अथवा भविष्य में होने वाली मृत्यु की निश्चितता से उत्पन्न भय, शोक एवं चिन्ता से ही प्रारंभ होते हैं। दर्शन शब्द का प्रारंभ ही वृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवलक्य-मैत्रेयी संवाद से माना जाता है जहां मैत्रेयी, याज्ञवलक्य की भौतिक संपदा

रूचि न दिखाते हुए, ऐसे ज्ञान को प्राप्त करना चाहती है जिससे मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सके।[15] सिद्धार्थ गौतम का महाभिनिष्क्रमण भी जरा-मृत्यु को ही दुःख के रूप में स्वीकार करते हुए, इसी के समाधान को खोजने का प्रयास है। कठोपनिषद् में नचिकेता मृत्यु के प्रश्न को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हुए, यमराज से इसके रहस्य को जानना चाहता है। अनेक अन्य उपनिषद्रों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार से ऋषियों की मृत्यु विषयक चिन्ता दृष्टिगोचर होती है। महाभारत में भी युधिष्ठिर द्वारा अभिमन्यु की मृत्यु के पश्चात् किया गया शोक, युद्ध के पश्चात् निकटजनों की मृत्यु से उत्पन्न होने वाला निर्वेद (दुःख एवं वैराग्य), व्यास, कृष्ण एवं भीम से ततूसंबंधी जिज्ञासाएं, इस संबंध में द्रष्टव्य हैं। श्रीमदभगवदूगीता के प्रारंभ में अर्जुन के मन में उत्पन्न होने वाले विषाद[16] का तात्कालिक कारण युद्ध में उसकी अथवा उसके निकटजनों की होने वाली संभावित मृत्यु ही हैं। अर्जुन के अनुसार यद्यपि कौरव पक्ष के मन में लोभ भरा होने के कारण वे सब परिवार के विनाश की बुराई और मित्रों के प्रति द्रोह करने के पाप को देख नहीं पा रहे हैं[17] परन्तु हमें तो कुल के विनाश के कारण होने वाला दोष भली-भॉति दिखाई पड़ रहा है। इसलिए पाप से दूर रहने की समझ होने के कारण[18] घृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना उसे उचित प्रतीत नहीं होता।[19] राज्य का आनन्द पाने के लोभ में अपने इष्ट बंधु-बांधवों को मारने के लिए तैयार होना उसे महान पाप लगने लगता है[20] और उसे लगता है कि यदि ''घृतराष्ट्र के पुत्र शस्त्र हाथ में लेकर मुझे मार डालें और मैं बिना शस्त्र उठाए, बिना उनका मुकाबला किए युद्ध में मारा जाऊँ तो वह मेरे लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा।[21] यह कहकर अर्जुन रणभूमि में अपना धनुषबाण छोड़कर शोक से व्याकुल चित्त होकर अपने रथ में बैठ गया।[22] एक ऐसा शोक जो उसके चित्त को मूढ़ बना देता है, एवं उसकी इन्द्रियों को सुखा डालता है।[23] यहां हमारे मूल विषय की विवेचना की दृष्टि से यह बहुत अधिक महत्वपूर्ण है कि इस पूरे अध्याय के नाम में विषाद के साथ योग का भी प्रयोग साथ-साथ किया गया है - इति श्रीमद्भगवदुगीतासूउपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादेर्जुन विषादयोगो नाम प्रथमोध्यायः। विषाद् एक प्रकार से न केवल दुःख शोक एवं उदासी की दशा है वरन् इस में क्लेश एवं अनुताप भी शामिल हैं।

(Sorrow - Distress, Sadness & Regret)

| | | | |
|---|---|---|---|
| निषाद् | तनाव | उदासी | अनुताप |
| | दुःख | शोक | |
| | क्लेश | विषाद् | |

विषाद् का अर्थ है, विषाद् + अद् - (विष को खाने वाले) अपनी अथवा निकटजनों की मृत्यु को आसन देखकर अर्जुन एक महान् आत्मिक तनाव, दुविधा एवं भव में से गुजरने लगता है, ऐसे में वह स्वयं को व्यष्टि, एकाकी और सबसे प्रथक अनुभव करता है जो चिन्ता (anxiety) सन्देह और असुरक्षा की गम्भीर अनुभूति को उत्पन्न कर देते हैं।

अर्जुन को इस विषाद एवं चिन्ता से बाहर निकालने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश मृत्यु की निश्चितता एवं सार्वभौमिकता (2.22) से प्रारम्भ होकर कर्म (4.33) ज्ञान एवं भक्ति (11.54,12.12, से 12.18 तक) के साथ-साथ योग (2.48, 2.50,6.12, 6.19), सिद्धि (3.4, 18.49,18.50) एवं अमरता/अमृतत्व (13. 12,14.20,14.27) की ओर लेकर जाता है। जबकि कठोपनिषद् बहुविध रूप से मृत्यु एवं उसके पार जाने पर चिन्तन करता है। नचिकेता प्रारम्भ में ही मृत्यु की सार्वभौमिकता एवं निश्चितता को स्वीकार करते हुए (कठ 1. 6), मृत्यु को एक देवता एवं एक विधायक शक्ति के रूप में स्वीकार करता है। यम के प्रति सम्मान से व्यक्त की गई उसकी मृत्यु सम्बन्धी जिज्ञासा एवं उत्कण्ठा धीरे-धीरे एक निश्चित्, गहरी एवं अस्तित्वपरक चिन्ता में

बदलती हुई दृष्टिगोचर होती है। उपनिषद् मनुष्य के लिए श्रेय, प्रेय आदि का विश्लेषण करते हुए ब्रहम् या चेतना की गहराई में ही मृत्यु के पास जाने के मार्ग की सम्भावना को स्वीकार करता है। इस प्रकार अमृतत्व को प्राप्त करना या मृत्यु के पार जाना की कठोपनिषद् के अनुसार योग, अध्यात्म एवं ब्रहमविद्या का सार है। जैसा कि उपनिषद् के अन्त में कहा गया मंत्र स्वयं बतलाता है। यह मृत्यु के द्वारा कही गई एवं नचिकेता द्वारा प्राप्त की गई विद्या एवं योग विधि है। उपनिषद् के अन्त में इसे यम-नचिकेता उपाख्यान कहते हुए, मनुष्य जन्म-मृत्यु के परे किस प्रकार जा सकता हैं, इसे ही इसका मुख्य विषय बतलाया गया है।

*मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं व कृत्सनम् ।*
*ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूदविमृत्युः अन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।। (कठोपनिषद्, 2.3.18)*

उपनिषद् के इस अन्तिम मंत्र से स्पष्ट है कि योग, अध्यात्म और ब्रहविद्या आदि मूलभूत शब्द अनिवार्यतः मृत्यु के पारे जाने की विद्या से जुड़े हैं। जब मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जैसा कि पा.यो.सूत्र के 1.3 में भी संकेत किया गया है - तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम्, तब वह जान लेता है कि वह अमृत स्वरूप है। मृत्यु है लेकिन वह अस्तित्व का अन्त नहीं रूपांन्तरण मात्र है, नए अस्तित्वों का निमित्त है। मनुष्य के अस्तित्व का सार, चेतना या अस्तित्व को जानना, उसके साथ एक होना, इसे ही अमृतत्व कहा जाता है। शरीर जड़ है किन्तु इसमें रहने वाली चेतना, अपने स्वभाव से ही अजर है, अमर है, अविभाज्य है। यदि मनुष्य चाहे तो कर्म, ज्ञान एवं अभीप्सा द्वारा इसी जीवन में इस परम चैतन्य के साथ एकता और समन्वय स्थापित कर सकता है, एक हो सकता है यही मृत्यु के पार जाना मृत्यु को जीतना या अमृत्तव है।

जब मनुष्य किसी नदी को तैर कर पार करता है, न कि उस नदी के उफान से या बहाव से भयभीत होकर, त्रस्त होकर रूक जाता है तो एक सापेक्ष अर्थ में वह नदी पर विजय प्राप्त करता है। ठीक इसी प्रकार सदैव मृत्यु से भयभीत रहना या त्रस्त रहना एक स्थिति है जबकि सत्कर्म एवं आत्मा-सजगता के साधन द्वारा मृत्यु रूपी नदी को सहजता से पार करना (तरन्ति), यही है - मृत्यु पर विजय प्राप्त करना। यहां पहुंच कर न केवल मनुष्य के मृत्यु - भय, मृत्यु से जुड़ी हुई बैचेनी या अकेलेपन का समापन होता है वरन् उसे सुख, शान्ति एवं तृप्ति भी प्राप्त होते हैं। गीता की भाषा में यही सिद्धि है जबकि उपनिषद् की भाषा में इसे ही पूर्णता कहा गया है और आज की भाषा में इसे प्रामाणिकता के रूप में भी देखा जा सकता है।

मनुष्य मरण धर्मा है, ''मर्त्य'' है, वह धान्य की भांति इस संसार में जन्म लेता है, धान्य की भांति ही पककर नष्ट भी होता है। यद्यपि उसकी मृत्यु निश्चित है किन्तु फिर भी मृत्यु से पूर्व जीवन में उसके पास कर्म करने की, ज्ञान प्राप्त करने की एवं संकल्प और अभीप्सा की भी क्षमता है। इन क्षमताओं के द्वारा वह जीवन में कुछ ऐसा प्राप्त कर सकता है, जिसे मृत्यु नष्ट नहीं कर सकती। मृत्यु केवल नकारात्मक शक्ति ही नहीं है, जो जीवन का विनाश करती है, वरन् वह एक विधायक शक्ति भी है, एक देवता है। देव का अर्थ है - प्रकाशित होने वाला या देने वाला। इन दोनों ही अर्थों में मृत्यु को देवता कहना सार्थक है - यदि मनुष्य मृत्यु के प्रति सचेतन एवं जागरूक है तो वह उसे ऐसा बोध प्रदान करती है जो उसके प्रत्येक कर्म को एक नवीन अर्थ एवं सार प्रदान करता है। सिर्फ अलग - अलग कर्म के संदर्भ में ही नहीं वरन् स्वयं अपने आप में भी यह बोध जीवन को सर्वोच्च सार्थकता एवं अर्थवत्ता प्रदान करने वाला है। यही प्रामाणिकता का विशेष औपनिषदिक अभिप्राय है। क्योंकि यह उसके अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान है। मृत्यु एवं उससे भय का होना ही मनुष्य में उसके अपने सच्चे स्वरूप के प्रति सजगता एवं जिज्ञासा को उत्पन्न करता है। बिना मृत्यु के भय के उसमें स्वरूप के प्रति इस प्रकार की जागरूकता, चिंता एवं सजगता का होना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो अवश्य ही है। उपरोक्त

विश्लेषण से स्पष्ट है कि उपनिषद् एवं गीता में मृत्यु का प्रश्न किस प्रकार धीरे-धीरे एक सच्चे, सार्थक या प्रामाणिक जीवन के प्रश्न में बदल जाता है। सिद्धि या पूर्णता का एक सीधा-सीधा अर्थ है - ''जीवन को उसकी पूर्णता एवं अधिकतम संभव सार्थकता के साथ जीना। यही प्रामाणिकता मृत्यु सम्बन्धी औपनिषद् आख्यानों का सार है।'' यह सिद्धि और अमृतत्व ही परम तृप्ति को भी देने वाली है, नारद भक्तिसूत्र के अध्याय एक का सूत्र-4 अत्यन्त सागर्भित रूप से इसी ओर संकेत करता है -

*यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।*

*(नारद भक्ति सूत्र 1.4)*

इस सूत्र में हम स्पष्ट देख सकते हैं कि किस प्रकार, सिद्धि, अमृतत्व एवं तृप्ति एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। मनुष्य के शोक एवं द्वेष का अन्त होता है। (नारद भक्ति सूत्र 1.5)

---

*दर्शन विभाग*
*राजीव गाँधी शासकीय महाविद्यालय*
*चौड़ा मैदान, शिमला-171004*

**सन्दर्भ -**

*1. संस्कृत आलोचना, बलदेव उपाध्याय*
*2. श्रीमद्भागवत में कुन्ती द्वारा की गई प्रार्थना*
*3. पातंजल योग सूत्र, 2.3*
*4. पातंजल योग सूत्र, 2.1*
*5. पातंजल योग सूत्र,1.2*
*6. पातंजल योग सूत्र, 2.7 और 2.8*
*7. पातंजल योग सूत्र, 2.6*
*8. पातंजल योग सूत्र, 2.5*
*9. पातंजल योग सूत्र, 2.4*
*10. पातंजल योग सूत्र, 2.10, 2.11*
*11. पातंजल योग सूत्र, 2.12*
*12. पातंजल योग सूत्र, 2.13*
*13. पातंजल योग सूत्र, 2.14*
*14. पातंजल योग सूत्र, 2.15*
*15. बृहदारण्यक उपनिषद् (2.4.2, 2.4.4 और 2.4.5)*
*16. विषाद् का शाब्दिक अर्थ- दुःख, चिन्ता, उद्वेग*
*17. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.38*
*18. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.39*
*19. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.37*
*20. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.45*
*21. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.46*
*22. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.47*
*23. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.7 और 2.8*

# भारतीय संस्कृति में सैंधव सभ्यता का नैरन्तर्य

*सुरेन्द्र कुमार यादव*

किसी भी संस्कृति के समृद्धि का मूल उत्स वहाँ के भौगोलिक स्थिति, व्यापार-वाणिज्य एवं शिल्प उद्योग पर निर्भर करता है। सैंधव संस्कृति अपने उत्कृष्ट कोटि के व्यापार-वाणिज्य, शिल्प-उद्योग, धार्मिक स्थिति एवं तकनीकी ज्ञान आदि से जानी जाती है। इस सभ्यता से संबंधित विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त व्यवस्थित नगर योजना, दुर्गीकृत विन्यास, विस्तृत व व्यवस्थित रुप से फैली हुयी सड़कमार्ग, जल निकासी की व्यवस्था एवं अन्नागार आदि अवयव इसे एक वृहद नगरीय सभ्यता के रुप में परिलक्षित करते हैं।[1] सैंधव संस्कृति के विशिष्ट प्रकार के तत्वों की उन्नत प्रगति की नैरन्तर्य हमें भारतीय संस्कृति में दिखलायी देती है। सैंधव संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों यथा हडप्पा, मोहनजोदड़ों, कोटडीजी, बनावली, राखीगढ़ी, कालीबंगा, लोथल, सुरकोटड़ा एवं धौलाबीरा आदि पुरास्थलों से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर जो तकनीकी, प्रौद्योगिकी, कृषि, शिल्प, उद्योग- धन्धें एवं धार्मिक परम्पराओं आदि का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार के साक्ष्य हमें भारतीय संस्कृति से संबंधित विभिन्न पुरास्थलों यथा हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली एवं चन्द्रकेतुगढ़ आदि से प्राप्त हुये हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या भारतीय संस्कृति के विविध तत्वों की मूल जड़ें सैंधव संस्कृति में निहित है? इसके अतिरिक्त वर्तमान अन्वेषणों के फलस्वरुप प्रकाश में आये नवीन साक्ष्यों के आधार पर सैन्धव संस्कृति के संदर्भ में पुरानी मान्यताओं के निष्पादन पर भी विचार किया गया है। सैंन्धव संस्कृति में कुछ विशिष्ट तत्वों का नैरन्तर्य भारतीय संस्कृति में दिखलायी दिखता है। इनमें मुख्य रुप से निम्नलिखित तत्वों को समाहित किया जा सकता है।

**नगर नियोजन की नैरन्तर्यता -** सैंधव संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों से आवासीय संरचना के वृहद् प्रमाण मिले हैं। इनमें हड़प्पा, मोहनजोदडों, कालीबंगा, बनावली, राखीगढ़ी एवं धौलाबीरा आदि पुरास्थल महत्वपूर्ण हैं। इस संस्कृति के पुरास्थल वृहद्, मध्यम एवं छोटे आकार के मिलते हैं, जो संभवतः नगर, कस्बे एवं गाँवों के रुप में रहे होंगे। इस संस्कृति का सम्पूर्ण विस्तार लगभग आठ लाख वर्ग मील में मिलता है। सैंधव सभ्यता में नगर एवं कस्बे को एक निश्चित योजना के अनुरुप बसाया जाता था। सामान्यतया पूर्व दिशा में नगर एवं पश्चिम दिशा में अपेक्षाकृत ऊँचे किन्तु छोटे टीले पर दुर्ग अथवा किले के बसाव का साक्ष्य मिलता है। दुर्ग रक्षा-प्राचीर से युक्त होते थे। किन्तु कहीं -कहीं नगर क्षेत्र को भी दुर्ग क्षेत्र के साथ ही रक्षा प्राचीर से घेरा जाता था, जैसे लोथल एवं सुरकोटड़ा। वे नगरों का नियोजन चेसबोर्ड (शतरंज के आधार पर) संरचना के अनुरुप करते थे तथा मकानों के निर्माण में प्रयुक्त ईटों को टोडिया-पट्टी विधि से जोड़ते थे। आधुनिक काल में इस विधि को इंगलिश बॉण्ड मेथेड (English Bondage Method) कहते हैं। सैंधव सभ्यता के नगरों में प्रत्येक आवासीय

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 75-87*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

प्रासाद के मध्य में एक आंगन, इसके चारों ओर चार-पाँच कमरे, रसोईघर, स्नानघर एवं अधिकांश घरों में कुआं होता था। स्नानघरों, बरसाती पानी एवं घरों के मलमूत्र के निकासी के लिये मल-कूप (Manholes) बने होते थे। इन्हीं के सिद्धान्तों के आदर्श पर कालान्तर में ऐतिहासिक काल में ''चतुःशाल-गृह'' निर्मित होने लगे, जिनका वर्णन प्राचीन साहित्य में बहुधा प्राप्य है।[2] आज भी परम्परागत पद्धति से बने घरों में सैंधव संस्कृति की भांति बीच में आंगन और उसके चारों ओर कमरे मिलते हैं। मोहनजोदड़ो के दुर्ग क्षेत्र से प्राप्त स्तम्भयुक्त भवनों के अवशेष मौर्यकालीन पाटलिपुत्र के स्तम्भों की याद दिलाते हैं। कुछ विद्वान कौशाम्बी के रक्षा प्राचीर की शैली को सैंधव की रक्षा प्राचीर से प्रभावित मानते हैं, किन्तु यह अत्यन्त संदेहास्पद है। धौलावीरा नामक पुरास्थल का नगर नियोजन की संरचना तीन इकाईयों में विभक्त थी- दुर्ग क्षेत्र, मध्य क्षेत्र एवं नगर क्षेत्र। इस पुरास्थल के उत्खननकर्ता प्रो. आर. एस. विष्ट ने ऋग्वेद में वर्णित परमेष्ठी(परमा), मध्येष्ठी(मध्यमा) एवं अवमेष्ढी (अवमा) से इनकी साम्यता स्थापित की है।[3] वैदिक एवं परवर्ती साहित्य में आवासीय संरचना से संबंधित अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिसकी साम्यता सैंधव संस्कृति के नगर विन्यास के विविध स्वरुपों से कर सकते हैं। ऋग्वेद में विशाल भवनों को हार्य कहा जाता था, जिनमें अनेक प्रकोष्ठ भी होते थे।[4] इन घरों को सुरक्षा हेतु बन्द भी किया जा सकता था। छतों से पटे आवासों को छर्दिस कहा गया है।[5] द्वारयुक्त घरों के लिये 'दुरोण' तथा 'दुर्यसु' शब्द प्रयुक्त किया गया है।[6] ऋग्वेद में दीवारों वाले पुरों (दुर्गो) का उल्लेख है,[7] जो प्रारम्भ में मिट्टी के तथा कालान्तर में पत्थर के बनाये जाने लगे। इसी ग्रन्थ में वर्णित 'त्रिधातु' शब्द का अर्थ सायणाचार्य ने 'त्रिभूमि' से किया है।[8] इससे प्रतीत होता है कि वैदिक कालीन घर तीन आँगन अथवा तीन मंजिले भी होते थे। सैंधव संस्कृति में दुर्ग एवं नगर क्षेत्र की योजना संभवतः दो विभिन्न वर्गो के रहनें के स्थल थे। परवर्ती ऐतिहासिक काल में विभिन्न वर्गो के लिये किसी आवास स्थल में अलग- अलग क्षेत्र निर्धारित किये गये है। उपरोक्त साक्ष्य से यह अनुमान लगा सकते हैं कि सैंधव संस्कृति के आवासों की नैरन्तर्यता बाद के कालों के आवासों से काफी मिलती जुलती है।

**विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान की नैरन्तर्यता -** सैंधव सभ्यता के विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान की जानकारी वहाँ के नगर नियोजन एवं विविध प्रकार के भवन निर्माण के आधार पर कर सकते हैं। सैंधव के नगरों का अभिविन्यास शतरंज पट की तरह होता था, जिनमें मोहनजोदड़ो की उत्तर-दक्षिण हवाओं का लाभ उठाते हुए सड़के करीब-करीब पूर्व से पश्चिम की ओर जाती थी। ऐसे सावधानीपूर्ण विन्यास के पूर्व भूमि का समोच्च सर्वेक्षण (कंटूर-सर्वे) आवश्यक है। मोहनजोदड़ो, कालीबंगा तथा लोथल से कांस्य, मृण, हस्तिदन्त एवं सीप के बने हुये मापक मिले हैं (छायाचित्र 1)। इन मापक शलाकाओं में दो प्रणालियाँ फुट तथा हाथ हैं। सीप में 13.2 इंच माप की फुट प्रणाली है और कांस्य शलाका में करीब 20.7 इंच के माप की हाथ प्रणाली है। लोथल[9] एवं चाहुन्दड़ो[10] से साहुल के प्रमाण मिले हैं, जिनका उपयोग बड़े भवनों के निर्माण में उपयोगी था। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल एवं अल्लाहदीनो आदि पुरास्थलों से छोटे-बड़े आकार के बाट मिले हैं( छायाचित्र 2)। इनका पैमाना 13-64 ग्राम एकक मान का ठीक 16 गुना वजन का है। माप-जोख और हिसाब की भारतीय पद्धति में 16 की प्रधानता सुविदित है। यह प्रधानता सैंधव सभ्यता में ही सर्वप्रथम निर्धारित हुई थी। सैंधव सभ्यता के नगर नियोजन एवं वास्तु संरचना के आधार पर उनके गणित एवं ज्यामितिय ज्ञान की जानकारी प्राप्त होती है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, धौलाबीरा एवं लोथल आदि के स्मारकों में रक्षाप्राचीर, अन्नागार, स्नानागार, सड़के तथा खण्ड़ों में बाँट कर बनाये गये आवासीय भवन गणित एवं ज्यामितिय ज्ञान को व्यक्त करते हैं। इस संस्कृति में नगर नियोजन को ध्यान में रखकर सड़कों का निर्माण हुआ है, जो बिना सर्वेक्षण के ज्ञान के संभव नहीं है। लोथल से प्राप्त ऐसे उपकरण जिसे सामान्यतया प्रकाल (Compas) माना जाता है, जो संभवतः भवन निर्माण में कोण बनाने व नापने के काम में आता होगा।[11] इसी तरह के अन्य उपकरण भी

विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुये हैं।[12] नालियों की योजना में समतलीकरण का ज्ञान, ईटों की बनावट में आयताकार, किनारों का नुकीलापन, समकोण में होना, कुओं के लिये अर्द्धगोल ईटों का बनाया जाना ज्यामितिय ज्ञान में समानान्तर एवं गोलाई के ज्ञान को पुष्ट करते हैं।[13] मृद्भाण्डों पर बनायी गयी विविध प्रकार की ज्यामितिय अलंकरण भी इस ज्ञान को पुष्ट करते हैं। सैंधव सभ्यता के सभी पुरास्थलों से ईंटों के माप का अनुपात 4:2:1 है।[14] ये सभी तकनीक कालान्तर में ऐतिहासिक कालों में दिखलायी देती है।

सैंधव सभ्यता के लोगों को धातु अयस्कों को पिघलाने एवं दो धातुओं के संयोग से मिश्रित धातु बनाने की तकनीक ज्ञात थी। मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य धातु की नर्तकी प्रतिमा का निर्माण बंद साँचे में डाल कर बनायी गयी है, जो मधुच्छिष्ट तकनीकी (Lost Wax Method) से संबंधित है (छायाचित्र -3)। इस तकनीकी की निरन्तरता सातवीं शताब्दी ईस्वी सन् में बिहार प्रान्त के सुल्तानगंज पुरास्थल से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा में दिखती है। बाद के कालों में भी इस तकनीकी की निरन्तरता लगातार बनी रही, जो दक्षिण भारत के चोल कला में दिखती है (छायाचित्र 4)।

**चिकित्सा विज्ञान की नैरन्तर्यता -** चिकित्सा के क्षेत्र में सैन्धव सभ्यता के लोग उन्नत अवस्था में थे। विश्व की सबसे प्राचीनतम सफल मानव मस्तिष्क सर्जरी का प्रमाण हड़प्पा संस्कृति के लोथल(गुजरात) एवं कालीबंगा(राजस्थान) पुरास्थलों से ज्ञात हुआ है।[15] कालीबंगा से प्राप्त एक नर कपाल का आपरेशन ड्रिल मशीन द्वारा छेद कर किया गया, जो पूर्णतया सफल रहा (छायाचित्र 5)। जब किसी व्यक्ति के कपाल के अंदरूनी भागों में हड्डी चटक जाती है, जो मस्तिष्क में बिखरी हड्डी के चूरे को मस्तिष्क से बाहर निकालने के लिये कपाल के एक छोटे हिस्से में शल्य क्रिया किया जाता है। इस प्रकार की शल्यक्रिया को (Trephination) कहा जाता है। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो से शल्यक्रिया में प्रयुक्त होने सदृश उपकरण प्राप्त हुये हैं। इसके अतिरिक्त हड़प्पा संस्कृति से अनेक औषधि, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य संबंधित जानकारियाँ प्राप्त हुयी है। इनमें विस्तृत स्वास्थ्य संबंधित उपाय, विशेष रुप से निर्मित कक्षों में स्नान की व्यवस्था, कटल फिश बोन, शिलाजित, प्रवाल, नीम की पत्ती, हिरण, गैंड़ा आदि जानवरों की अस्थियाँ आदि मिली है, जिनका प्रयोग औषधि के रुप में किया जाता रहा होगा। आयुर्वेद में उपर्युक्त औषधियों का उल्लेख मिलता है। ये तथ्य इंगित करते हैं कि भारतीय चिकित्साशास्त्र का मूल हड़प्पा संस्कृति तक प्रसरित था।[16]

**कृषि एवं शिल्प उद्योग की नैरन्तर्यता -** कालीबंगा के प्राक् हड़प्पीय चरण से जुते हुये खेत का प्रमाण मिला है। इस खेत के सीते दो दिशाओं में है, पूर्व -पश्चिम और उत्तर दक्षिण। पूर्व-पश्चिम में 30 सेमी. तथा उत्तर दक्षिण दिशा में 1.90 मीटर (छायाचित्र 6)।[17] ये एक साथ दो फसल बोने के साक्ष्य हैं और निश्चय ही सिंधु सभ्यता में भी प्रचलित रहे होंगे। इस तरह की कृषि का प्रचलन आज भी राजस्थान, हरियाणा और पूर्वी उत्तर प्रदेश आदि क्षेत्रों में प्रचलित है (छायाचित्र 7)। सैंधव सभ्यता के बनावली नामक पुरास्थल से मिट्टी के हल का खिलौना प्राप्त हुआ है (छायाचित्र 8)।[18] इससे हल के निर्माण तथा प्रयोग की पुष्टि होती है।[19] इसके अतिरिक्त सील-बट्टा (छायाचित्र 9), वृत्ताकार चकरी के दो पाट, कुदाल, दोधारी व एकधारी धातु की हंसिया तथा कपास, धान, गेहूँ, बाजरा, मटर एवं तिल आदि अन्न के साक्ष्य तथा कृषि सामान ढ़ोने के लिये गाड़ियों के अवशेष प्राप्त हुये हैं।[20] इस प्रकार के साक्ष्यों का प्रमाण भारतीय संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों से भी मिलते हैं।

सैंधव संस्कृति के पुरास्थलों से प्राप्त विविध प्रकार के पुरावशेषों से हम विभिन्न प्रकार के उद्योगों का अनुमान लगा सकते हैं। इनमें प्रमुख रुप से वस्त्र उद्योग, हस्तिदन्त उद्योग, मनका उद्योग, मृत्तिका उद्योग, आभूषण उद्योग, धातु उद्योग, काँच उद्योग एवं प्रस्तर उद्योग आदि प्रमुख हैं। मोहनजोदड़ो से मजीठ रंग से रंगा हुआ सूती कपड़ें का टुकड़ा प्राप्त हुआ है। यहीं से तिनफुलिया चिन्ह बनी चादर ओढ़े सन्यासी की धड़ मूर्ति

प्राप्त हुयी, जिससे वस्त्रों पर अलंकरण का अनुमान लगाया जा सकता है (छायाचित्र 10)। ऊनी कपड़ा भी तैयार किया जाता था। उत्खनन से कपड़े बुनने, सूत काटने के तकुऐ तथा उनको लपेटने की ललाई एवं बाबिन आदि प्राप्त हुये हैं। सैंधव संस्कृति में हस्तिदन्त से संबंधित पुरावशेषों में मोहनजोदड़ो से प्राप्त अलंकृत फलक, कंघी, बालों में लगाने की पिन एवं सुईयाँ, दर्पण के हत्थे, गोटियाँ एवं लेखनी के प्रमाण मिले हैं। लोथल में हस्तिदन्त का कार्य होता था।[21] हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न पुरास्थलों से बड़ी संख्या में मनके प्राप्त हुये हैं। लोथल एवं चहुन्दड़ों से मनका बनाने वाले शिल्पियों की उद्योगशालाएं प्राप्त हुई हैं। ये मनके सेलखड़ी, कार्नीलियन, जैस्पर, चाल्सीडोनी, क्रिस्टल, लाजवर्द, कांचली मिट्टी, शंख, हस्तिदन्त आदि के बने हुये थे। सैंधव संस्कृति में मृत्तिका उद्योग पूर्णरुप से विकसित रहा। इस संस्कृति के प्रत्येक पुरास्थलों से विविध आकार-प्रकार के मृद्भाण्ड़ों के प्रमाण मिले हैं। इन पर अलंकरणों की एक लम्बी श्रृंखला मिलती है। साथ ही मृत्तिका उद्योग के अन्तर्गत मृण्मूर्तियां, मुखौटे, मुहरे एवं खिलौने आदि प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त सैंधव संस्कृति में आभूषण उद्योग, धातु उद्योग, काँच उद्योग एवं प्रस्तर उद्योग आदि उन्नत रुप में दिखलायी देता हैं (छायाचित्र 11)।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों यथा हस्तिनापुर, अतरंजिखेड़ा, खैराडीह, कौशम्बी, राजघाट, अगियाबीर एवं वैशाली आदि से प्राप्त विविध प्रकार के पुरावशेषों में निहित विविध शिल्प उद्योगों का अप्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है। इनमें कुछ पुरावशेष अपनी प्रकृति, गढ़न, निर्माण, बनावट एवं उपयोगिता आदि के आधार पर सैंधव संस्कृति से संबद्ध शिल्प उद्योगों के समतुल्य हैं।

**धर्म की नैरन्तर्यता -** भारतीय संस्कृति के अनेक देवी देवताओं का मूल उत्स हमें सैंधव संस्कृति में देखने को मिलता है। इनमें मातृदेवी की उपासना, पशुपति शिव की कल्पना, लिंग एवं योनि पूजा, मूर्ति पूजा, वृक्षपूजा, जल की पवित्रता एवं नाग पूजा आदि महत्वपूर्ण है। सैंधव सभ्यता के अनेक पुरास्थलों से मृण की बनी अनेक नारी मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं। ये प्रायः पंखकार शिरो-भूषा, कई लड़ियों वाले हार, चूड़ियां, मेखला तथा कर्णाभरण पहने हैं। पंखकार शिरोभूषण के दोनों ओर दीपक जैसी आकृति बनी हैं, जिनमें कालिख लगी मिली है। जो इस बात का द्योतक है कि इनमें धूप जलायी गई होगी। विद्वानों ने विशद् केश सज्जा से युक्त होने के कारण पूजा के निमित्त मातृदेवी की मूर्ति माना है। प्राचीन भारत में मातृदेवी की पूजा का प्रचलन प्रथम सहस्त्रब्दी ईसा पूर्व से ही मिलने लगता है। शिव की उपासना से संबंधित अंकन सैंधव सभ्यता की मुहरों एवं मूर्तियों में दिखलायी देता है। मार्शल महोदय ने मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर पर अंकित देवता को ऐतिहासिक काल के शिव का प्राक् रुप माना है। यह देवता योगासन मुद्रा में एक चौकी पर बैठे हैं। इसके अगल बगल चार पशुओं का अंकन है, जो संभवतः उसके पशुपति रुप में द्योतक है।[22] (छायाचित्र 12) हड़प्पा से प्राप्त नग्न पुरुष की पाषाण मूर्ति शिव के योगीश्वर रुप को इंगित करती है। हडप्पा, मोहनजोदड़ो तथा कालीबंगा आदि पुरास्थलों से पत्थर एवं मृण के बने लिंग एवं योनि की आकृतियां प्राप्त हुयी हैं। सप्तमातृकाओं का अंकन सैंधव मुद्राओं पर उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त पशु एवं वृक्ष पूजा के साक्ष्य मिलते है। पीपल के वृक्ष का अंकन मुहरों एवं पात्रों पर बहुधा देखनें को मिलता है (छायाचित्र-13)। सैंधव संस्कृति में वृक्षोपासना के अनेक साक्ष्य मिलते हैं(छायाचित्र 14)। सैंधव सभ्यता में नाग पूजा का अंकन मोहनजोदड़ो से प्राप्त मृण की एक मुहर पर दिखता है। इसमें योगासीन मानवाकृति के दोनों ओर एक -एक पुरुष हाथ जोड़े है, उनके पीछे सर्प के फन के रुप में दिखलाया गया है(छायाचित्र-15)। प्राकृतिक शक्तियों की उपासना बाद में भारतीय धर्म के प्रधान अंग बन गये। सैंधव सभ्यता में कुछ मूर्तियों को नग्न दिखाया गया है। इनमें से कुछ देवता हो सकते है। हड़प्पा से प्राप्त नग्न मानव धड़ (छायाचित्र-16) के समान ही चमकदार ओप से प्रलेपित प्रस्तर से निर्मित मौर्यकालीन मानव धड़ लोहानीपुर

(पटना, बिहार) से प्राप्त हुये हैं, जिसकी पहचान इतिहासविदों ने तीर्थंकर मूर्ति से की है (छायाचित्र- 17)। जिसकी निरन्तरता ऐतिहासिक काल में भी दृष्टव्य है। सैंधव संस्कृति में अग्निवेदी, अन्त्येष्ठि संस्कार एवं पशुबलि के साक्ष्य भी मिले हैं। कालीबंगा के नगर क्षेत्र के कमरों में अग्निवेदी के साक्ष्य मिले है, जिनमें पशु अस्थियों के अवशेष हैं। इसी तरह के अग्निवेदी साक्ष्य बनावली एवं लोथल नामक पुरास्थलों से भी मिले हैं।[23] इसके साथ ही मुहरों पर भी पशुबलि के अंकन का उल्लेख पुराविद्रों द्वारा किया गया है।[24] उत्तरप्रदेश के बागपत जिले में स्थित सनौली नामक पुरास्थल के उत्तरवर्ती हड़प्पा चरण से लकड़ी एवं ताबें से निर्मित शाही रथ, ताबूत, कंकाल के साथ मूट्ठेवाली लम्बी तलवार, कटार, कवच, सिरस्त्राण, मशाल, दर्पण एवं स्वर्ण आभूषण आदि के साक्ष्य मिले हैं[25] (छायाचित्र 18-19)। यह साक्ष्य पूर्ववर्ती कई मान्यताओं को नवीन दृष्टि से देखने को विवश करता है। भारतीय संस्कृति में रथ के प्रमाण प्रागैतिहासिक काल से ही मिलने शुरु हो जाते हैं,[26] जिसकी नैरन्तर्य आज तक बनी हुयी है।

**लोक कला की नैरन्तर्यता -** सैन्धव सभ्यता से प्राप्त विभिन्न प्रकार के मुहरों एवं पात्रों पर अंकित चित्रणों से हम लोक कला के कथानकों का अनुमान लगा सकते है। लोथल से प्राप्त एक पात्र पर प्यासे कौऐ का अंकन किया गया है, जो पात्र में जल कम होने के कारण उसमें कंकड डालकर अपनी प्यास बुझाता है(छायाचित्र 20)। दूसरा अंकन भी लोथल से ही प्राप्त हुआ है, जिसमें पात्र के ऊपर धूर्त लोमड़ी एवं बगुले का अंकन किया गया है(छायाचित्र 21)। ये दोनों ही लोक कथाएं भारतीय संस्कृति के जनमानस में प्रचलित हैं।

**प्रतीकों की नैरन्तर्यता -** सैन्धव सभ्यता के विभिन्न पुरास्थलों से मुहरों एवं पात्रों पर अनेक प्रकार के प्रतीकों का अंकन मिलता है। ये प्रतीक भारतीय संस्कृति में धार्मिक महत्व के रुप में दिखलायी देते हैं। इनमें स्वस्तिक, चक्र, पीपल की पत्ती, केला एवं ध्वज आदि का अंकन मिलता है। मोहनजोदड़ो से स्वस्तिक का प्रमाण प्राप्त हुआ है(छायाचित्र 22)। भारतीय परम्परा में स्वस्तिक का अंकन शुभ लक्षण एवं सूर्य के प्रतीक के रुप में मिलता है।

**योग की नैरन्तर्यता -** सैन्धव सभ्यता से प्राप्त विभिन्न मुहरों एवं मूर्तियों में योग की मुद्राओं का अंकन दिखता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर में पुरुष का अंकन पद्मासन मुद्रा में है। योग की एक अन्य मुद्रा का अंकन एक मूर्ति में मिलता है, जिसकी अर्द्धनिमीलित नेत्र नासिका के अग्र पर केन्द्रित है। इसको साम्भवी मुद्रा से संबंधित किया जाता है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त अधोवस्त्र से युक्त भू-स्पर्श जैसी मुद्रा में चूना पत्थर से निर्मित मूर्ति मिली है, जो गुप्तकाल के भू-स्पर्श मुद्रा के बुद्ध मूर्ति के समान है। हड़प्पा से नमस्कार मुद्रा में मृण की बनी मूर्ति प्राप्त हुयी है(छायाचित्र 23)। भारतीय संस्कृति में इस प्रकार की योग मुद्रा से संबंधित प्रतिमाएं तीसरी शताब्दी ईस्वी से बहुतायत में मिलने लगती है।

**समाजिक परम्परा की नैरन्तर्यता -** सैंधव सभ्यता में अनेक सामाजिक परम्पराओं का अंकन वहाँ के विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त पुरावशेषों में दिखलायी देता है। नौसारों एवं मेहरगढ़ नामक पुरास्थल से मृण की बनी हुयी नारी मूर्ति के मांग में सिन्दूर का अंकन मिलता है[27] (छायाचित्र 24)। आज भी भारतीय नारी के मांग में सिन्दूर लगाना उसके विवाहिता एवं सधवा होने का परिचायक है। इसी तरह सैंधव सभ्यता से विभिन्न प्रकार के आभूषणों की निरन्तरता परवर्ती संस्कृतियों में दिखलायी देती है। मोहनजोदड़ों से शंकुनुमा स्वर्ण आभूषण एवं कांस्य नर्तकी के बायें हाथ में बाजूबंद का अंकन आज भी राजस्थान एवं गुजरात की महिलाओं में देखने को मिलता है। इस संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों से हस्तिदन्त के कंघी[28], हेयर पिन[29], अंजन शलाका[30], चूड़ियाँ, अंगूठियाँ, ताबीज एवं दर्पण आदि के साक्ष्य प्राप्त हुये हैं। कुणाल, हड़प्पा एवं लोथल आदि पुरास्थलों से रजत व स्वर्ण के मनकों की माला प्राप्त हुयी है। भारत में इस प्रकार के आभूषणों का प्रचलन आज भी दिखलायी देता है।[31] सैंधव सभ्यता के आमोद-प्रमोद के साधनों का अनुमान वहाँ के पुरावशेषों से ज्ञात होता है। यहाँ के

विभिन्न आमोद-प्रमोद की सामग्रियों में झुनझुना, घनाकार पांसे, पक्षियों की आकृतिनुमा सीटी, चौसर, गोलियाँ, फिरंगी, मुखौटा, मिट्‌टी व शंख के लट्‌टू आदि का प्रमाण मिला है (छायाचित्र 25)। धौलाबीरा से स्टेडियम के साक्ष्य मिले है, जिसका प्रयोग निश्चित रुप से आमोद-प्रमोद, धार्मिक उत्सवों आदि आयोजनों के लिये किया जाता था।[32] भारतीय संस्कृति में इस प्रकार के साक्ष्यों का उल्लेख मिलता है।

**निष्कर्ष -**

उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति में सैंधव सभ्यता की नैरन्तर्य के साक्ष्य प्रौद्योगिकी विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, कृषि विज्ञान, मृतिका निर्माण, गणित, स्वास्थ्य विज्ञान, योग विज्ञान, धार्मिक मान्यताएं एवं सामाजिक परम्पराओं आदि में परिलक्षित होते हैं। सैंधव सभ्यता के ये विशिष्ट तत्व भारत में इतने गहरे तक समाये हुये हैं कि इसकी प्रतिध्वनि सदियों तक विभिन्न संस्कृतियों में सुनाई देती रही। कालावधि के परिणाम स्वरुप सैंधव संस्कृति के विविध आयाम, मान्यताएं एवं मूल स्वरुप भारतीय संस्कृति में परिवर्तित होकर नवीन रुप में सामने आयी। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह परिलक्षित होता है कि सैंधव सभ्यता पूर्णतः विलुप्त नहीं हुयी अपितु ह्रासोन्मुख स्थिति में यह बाद की संस्कृतियों में स्थानान्तरित हो गयी। तीसरा तथ्य यह संभावित है कि सैंधव संस्कृति ने परवर्ती भारतीय संस्कृतियों को प्रभावित किया। इस तथ्य की पुष्टि सनौली पुरास्थल से प्राप्त ताम्रनिधि समरुप के पुरावशेषों का हड़प्पा कालीन शवाधान प्रथा में उपयोग किया गया है। इसी तरह का प्रमाण हरियाणा के खेरी गुजर पुरास्थल से प्राप्त ताम्रनिर्मित मानवाकृति के ऊपर हडप्पा सभ्यता से प्राप्त मुहरों पर उत्कीर्ण एकश्रृंगी पशु के समरुप चित्रण है(छायाचित्र 26)। इस पर हडप्पा लिपि के अक्षर का अंकन भी मिलता है।[33] सैंधव सभ्यता का नगरीय स्वरुप प्रारम्भिक भारतीय संस्कृति पर स्थायी प्रभाव इस लिये नही डाल सका, क्योकि बाद की अनेक शताब्दियों तक भारत में नगरों का विकास नही हो सका। लेकिन अनेक परम्पराएं संशोधित एवं परिवर्तित रुप से आगे चलती रही, जो हमें वर्तमान समय में सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक जीवन के अनेक तत्वों दिखलायी देती हैं।

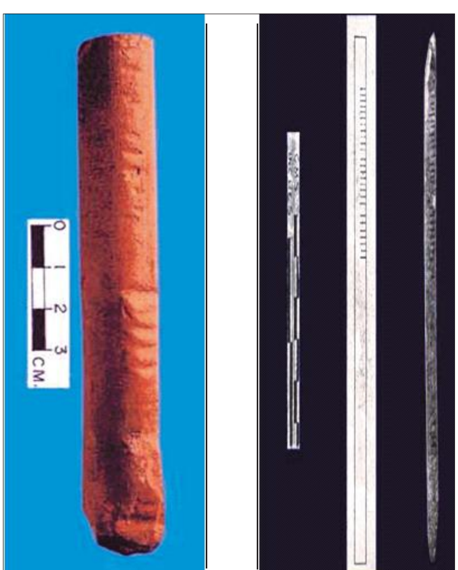

छायाचित्र 1 : मृण एवं हस्तिदन्त के मापक, कालीबंगा व लोथल

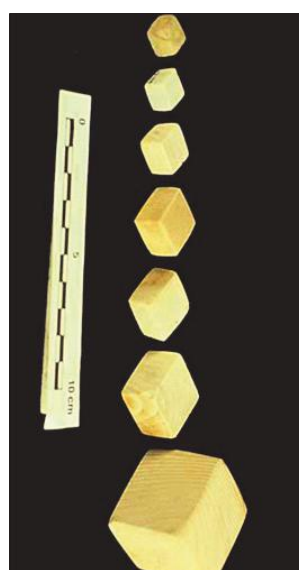

छायाचित्र 2 : बटखरे, अल्लाहदीनो, पाकिस्तान

छायाचित्र 3 : नर्तकी प्रतिमा, मोहनजोदड़ो

छायाचित्र 4 : नटराज, चोल कला

छायाचित्र 5 : कपाल की शल्यक्रिया, कालीबंगा, राजस्थान

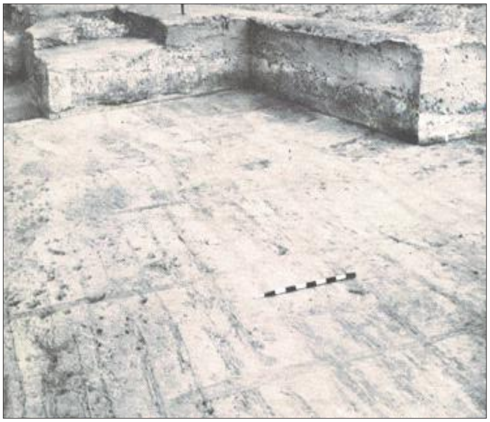

छायाचित्र 6 : जुती हुयी खेत की पंक्ति, कालीबंगा

छायाचित्र 7 : आधुनिक जुती हुयी खेत पंक्ति

छायाचित्र 8 : मृण का बना हल, बनावली

छायाचित्र 9 : सिलबट्टा, राखीगढ़ी, हरियाणा

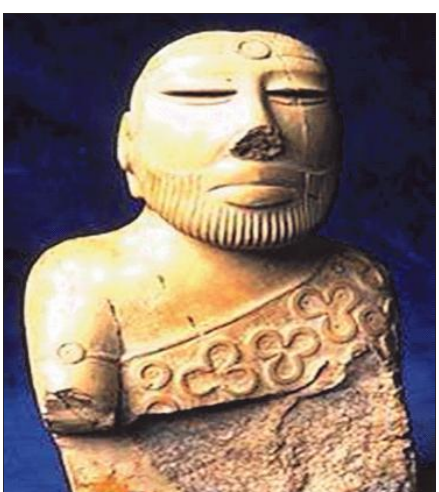

छायाचित्र 10 : पुरुष प्रस्तर मूर्ति, मोहनजोदड़ो

छायाचित्र 11 : आभूषण व मनके, मोहनजोदड़ो

छायाचित्र 12 : पशुपति शिव, मोहनजोदड़ो

छायाचित्र 13 : पीपल, मोहनजोदड़ो

छायाचित्र 14 : मृण पट्टिका पर वृक्ष, हडप्पा

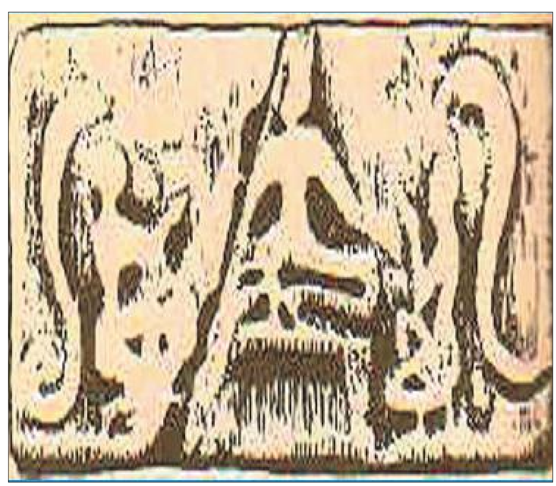

छायाचित्र 15 : नागपूजा, मोहनजोदड़ो

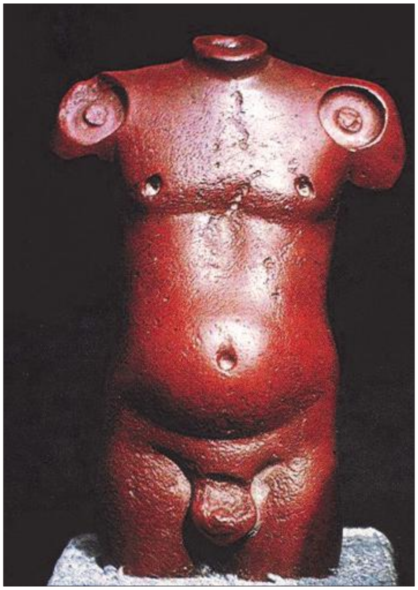

छायाचित्र 16 : पुरुष धड़, हड़प्पा

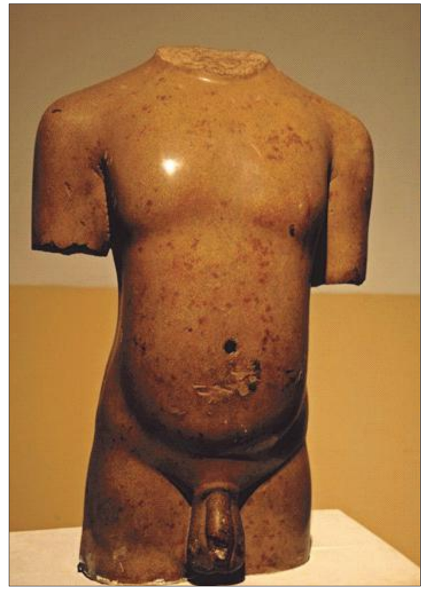

छायाचित्र 17 : पुरुष धड़, लोहानीपुर, पटना

छायाचित्र 18 : रथ व ताबूत, सनौली

छायाचित्र 19 : तलवार एवं कटार, सनौली

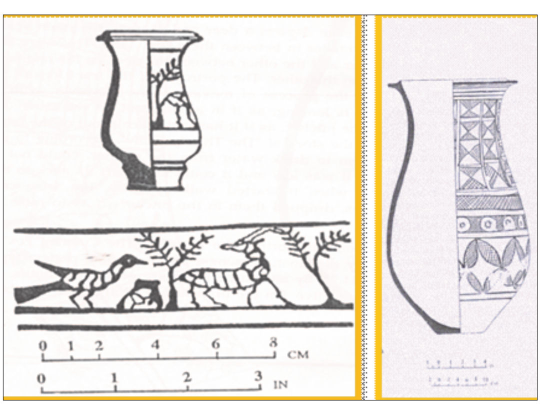


छायाचित्र 20 : लोक कथानक का अंकन, लोथल

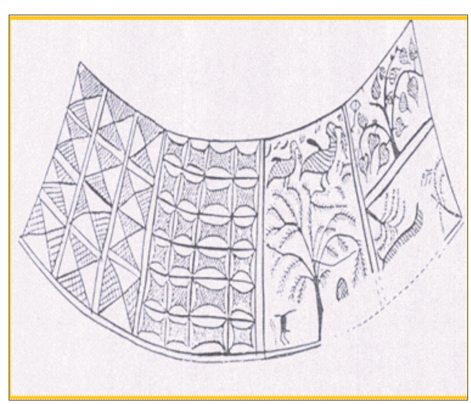

छायाचित्र 21 : जामदानी पर अंकित लोक कथानक, लोथल

छायाचित्र 22 : स्वतिक, मोहनजोदड़ो

छायाचित्र 23 : योग की विभिन्न मुद्राएं, हडप्पा

छायाचित्र 24 : नारी मृण्मूर्ति के मांग में सिन्दूर का प्रमाण, नौसारो, पाकिस्तान

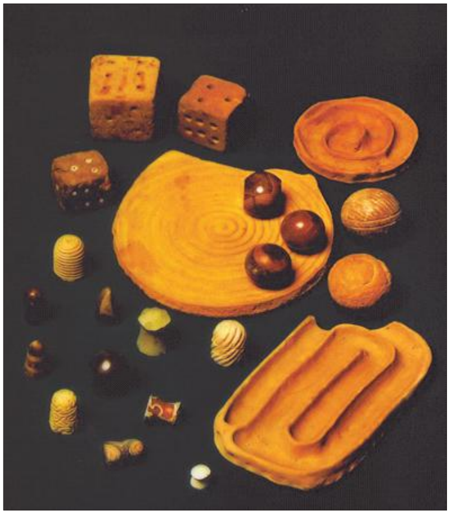

छायाचित्र 25 : खिलौने, चौसर, पांसे का अंकन, मोहनजोदड़ो

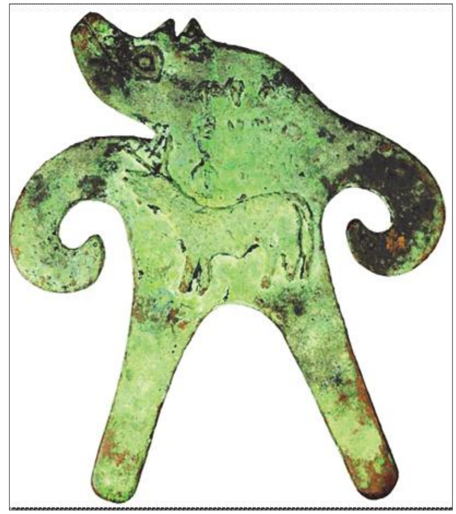

छायाचित्र 26 : मानवाकृति में अंकित एकश्रृंगी पशु, खेरी गुजर, सोनीपत, हरियाणा

*प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, विभाग*
*डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003*

**सन्दर्भ -**


1. *Possehl, Gregory L. 2003. The Indus Civilization : A Contemporary Perspective, New Delhi : Vistaar Publications, Page. 57*
2. *अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला, पृथवी प्रकाशन, वाराणसी, 1966, पृष्ठ 51-54*
3. *Danino, Michel 2003. The Harappan Heritage and the Aryan Problem , Man and Environment, vol. XXVIII, No. 1, Page 21-32*
4. *ऋग्वेद, संहिता और पद, सायण भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933, 7.55.6,. 10.73.10*
5. *उपरोक्त, ऋग्वेद, 4.53.1,. 6.15.3*
6. *उपरोक्त, ऋग्वेद, 1.69.2,. 3.1.18,. 4.2.7*
7. *उपरोक्त, ऋग्वेद, 1.166.8*
8. *उपरोक्त, ऋग्वेद, 6.46.9, त्रिधातु शरणं त्रिवरुथं स्वतिमत्। यहाँ त्रिधातु का अर्थ सायण त्रिभूमिकं और स्वस्तिमत् का अर्थ अविनाशयुक्तं से करते हैं।*
9. *Rao, S.R. 1979. Lothal: A harappan Port town, 1955-62, Vol- I, No 78, MASI, New Delhi : A.S.I, Page 730.*
10. *Mackay, E.J.H. 1943. Chanhudaro Excavation 1935-36, New Heaven:American Oriental Society, Page 229*
11. *Rao, S.R. 1973. Lothal and Indus Civilization, Bombay: Asia Publishing House, Page 107*
12. *Agrawal, D.P. 1982. "The Technology of the Indus Civilization" In Indian Archaeology, New Perspective, R.K. Sharma (Etd.), New Delhi:Agam Kala Prakashan, Page 90*
13. *Deshpandeay, M.N. 1971. Archaeological Sources for the Reconstructing of the History of Science, Indian Journal of History of Science, No.VI, Page 9*

14. *Agrawal, D.P. 2007. The Indus Civilization an Interdisciplinary perspective, New Delhi: Aryan Books International, Page 78*
15. *Sankhyan, A. R. and G. R. Schug. 2011. First evidence of Brain Surgery in Bronze age Harappa, Current Science, Vol. 100, No. 11, 10 June 2011, Page 1621-1622*
16. *सेन, समरेन्द्र नाथ, विज्ञान का इतिहास (भाग-1) बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1972, पृ. 81*
17. *Lal, B. B.1971. Perhaps the earliest ploughed field so far excavated anywhere in world, Puratattva, No. 4, Page 1-3.*
18. *Bisht, R. S.1978. Banawali : A new Harappan site in Haryana, Man and Environment, No. 2, Page 86-88*
19. *Sankalia, H.D. 1970. Some Aspects of Prehistoric Technology in India, New Delhi : INSA, Page 63*
20. *Allchin B, Alehin.1982. The rise of civilization in India and Pakistan, Cambridge: Cambridge University Press, Page 192*
21. *थपल्याल, किरण कुमार एवं संकटाप्रसाद शुक्ल, सिंधु सभ्यता, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2003 (षष्ठ संस्करण) पृ. 151*
22. *Marshall, John. 1931. Mohenjodaro and the Indus Civilization, Vol. III, London : Arthur Probsthain, Page 51-52*
23. *Lal, B. B. 2009. How deep are the Roots of Indian Civilization? Archaeological Answer, New Delhi : Aryan Books International, Page 33*
24. *Lal, B. B.1997. The Earliest Civilization of South Asia: rise, maturity and decline, New Delhi: Aryan Books International, pl. XXXII-B, Page 227-228*
25. *Manjul, S.K and A.Manjul. 2018. Recent Excavation at Sanauli, District Bagpat, UP: A landmark of Indian Archaeology. Puratattva 48, Page 220-225, Pl. 6-12*
26. *Allchin, 1958. 'Morhana Pahar: A Rediscovery' Man, 58, Page 153-55, Pl. M*
27. *Lal, B.B, 2002.The Sarasvati Flows of the Continuity of Indian Culture, Aryan Books International, New Delhi, Page 83-84*
28. *Vats, M. S. 1940. Excavations at Harappa, Delhi: Government of India Press, Page 452*
29. *Marshall, John. 1931. Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol.III, pl. XCIV, No.6-7*
30. *Vats, M. S. 1940. Excavations at Harappa, Delhi: Government of India Press, Page 459*
31. *Lal, B.B. 2002.The Sarasvati Flows of the Continuity of Indian Culture, New Delhi: Aryan Books International, Page 84-86*
32. *थपल्याल, किरण कुमार एवं संकटाप्रसाद शुक्ल, सिंधु सभ्यता, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2003 (षष्ठ संस्करण) पृ. 238-43*
33. *झा, सुनील कुमार हडप्पा सभ्यता की निरन्तरता, रिसर्च इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली, 2013, पृ. 241, छायाचित्र 48*

# वेदों में शल्य चिकित्सा

*संजय कुमार*

'शल्यम्' यह शब्द शल+धातु में यत् प्रत्यय के योग से बना है। जिसका अर्थ वर्छी, बाण, काँटा इत्यादि बताया जाता है।[1] इन अर्थों से स्पष्ट होता है कि शल्य नूकिले एवं धारदार एक प्रकार का शस्त्र होता है, जिसका प्रयोग शल्य क्रिया में किया जाता है। शल्य क्रिया के द्वारा रोग निदान की विधि ही शल्य चिकित्सा है। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में भी शल्य का प्रयोग नुकीले अस्त्र-शस्त्र के रूप में किया गया है। महाकवि कालिदास अपने रघुवंश महाकाव्य में लिखते हैं- शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः।[2] अर्थात् छाती से वाण निकाल लो। इसी अर्थ में शल्य का प्रयोग करते हुए पुनः कालिदास कहते हैं- शल्यप्रोतं प्रेक्ष्यसकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तः शल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि।[3] अर्थात् महाराज दशरथ देखते हैं कि नरकटकी झाड़ियों में बाण से विधा हुआ, घड़े पर झुका हुआ किसी मुनि का पुत्र पड़ा है। उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ मानों इन्हें ही बाण आ लगा हो। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में पुनः इसी शब्द को व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं- मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहतिमाम्।[4] वह विषय से बुझे हुए तीर के नोंक की तरह मुझे जला रहा है। अर्थात् दुःख रूपी कील निकल जाने पर कहूँगा। वहीं पर लिखते हैं- उद्धृत विषाद शल्यः कथयिष्यामि।[5] अर्थात् महाकवि भवभूति भी यही प्रयोग 'उत्तररामचरित' में कहते हैं- यथा तिरश्चीनमलातशल्यम्।[6] अर्थात् तिरछे अंगारमय लोहे के किरण के समान। इस प्रकार धार-दार लोहे के यन्त्रों को ही शल्य कहा गया है। शल्य के द्वारा रोग उपचार विधि को ही शल्य चिकित्सा कहा जाता है।

चिकित्सा के दो वृहद् क्षेत्र माने जाते हैं- एक है रोग विज्ञान (Medicine) और दूसरा शल्य (Surgery)। जैसा विभिन्न भागों से उत्पन्न रोगों का उपचार औषधि से असंभव हो जाता तब शल्य क्रिया द्वारा छेदन-भेदन आदि उपचारों से रोपण कर्म से, अग्नि एवं क्षार कर्म के द्वारा अथवा रक्त मोक्षण द्वारा रोग का निवारण किया जाता है। यही रोग नाशन की हमारी प्राचीन परम्परा रही है। जैसा कि 'सुश्रुतसंहिता' में कहा गया है कि -

*घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सौत्तरवस्तिभि।*
*उपक्रमो जघन्योऽयमतः सम्परिकीर्तितः।।*[7]

अर्थात् यदि घृतों, क्षारों, काढो, दुग्धों और उत्तरवास्तियों (Bluddev washes) से अश्मरी में लाभ न हो तो शल्य कर्म ही एक मात्र उपाय है। कहने का भाव यह है कि शल्य कर्म रोग निदान का अन्तिम विकल्प है। सभी विकल्प जब काम न करें तभी शल्य चिकित्सा की सहायता ली जानी चाहिए। शल्य-कर्म अतिकठिन चिकित्सा पद्धति है। बड़े कुशल चिकित्सक की सफलता भी संदिग्ध होती है, इस लिए इसे जघन्यकर्म कहा जाता है -

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 88-100*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

*कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा।*
*उपक्रमो जघन्योऽयमतः सम्परिकीर्तिनः।।*[8]

अर्थात् शल्यकर्म में कुशल शल्यकर्ता के लिए भी सफलता संदिग्ध होती है। इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण ही इसे जघन्य कर्म माना जाता है। शल्य चिकित्सा निश्चित रूप से छूरे की धार पर चलना ही है। अल्प असावधानी भी जीवन के लिए संकट उत्पन्न कर सकती है। इसी लिए शल्य चिकित्सा के पूर्व परिजन या राजा से अनुमति लेनी पड़ती है। ऐसा शास्त्रों में विधान है-

*अक्रियायां ध्रुवो मृत्यु क्रियायां संशयो भवेत्।*
*तस्यादापृच्छ्य कर्त्तव्यमीश्वरं साधु कारिणा।।*[9]

अर्थात् यदि शल्य चिकित्सा न की जाय तो रोगी की मृत्यु निश्चित है और शल्यकर्म करने में सफलता सन्दिग्ध है तो शुभचिन्तकों के परिजन या राजा से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके ही शल्य कर्म करना चाहिए। इसी कारण से यह परम्परा आज भी चिकित्सालयों में देखने को मिलती है कि सभी छोटे-बड़े शल्यकर्म के लिए चिकित्सक लिखित रूप में अनुमति लेकर ही शल्य कर्म प्रारम्भ करता है।

शल्य चिकित्सा को रोग निवारण का मुख्य आधार माना जाता है। विभिन्न प्रकार के यन्त्र और अस्त्र द्वारा प्रयुक्त रोग निवारण पद्धति शल्य चिकित्सा कहलाती है। शल्य तन्त्र के विषय में डॉ. रामजीत विश्वकर्मा का कहना है- 'जिस अंग में शल्य द्वारा होने वाली व्याधि को दूर किया जाता है वह शल्य तन्त्र है।'[10] यदि हम शल्य तन्त्र के इतिहास पर विचार करें तो इसका आरम्भ पाषाण काल से ही हो गया था। जब मनुष्य जंगलों, कन्दराओं, पर्वतों पर निवास करता था। अकसमात उनके पंच भौतिक शरीर में फोड़ा-फूंसी इत्यादि हो जाया करते थे। उसके निदान के लिए वे नुकीले पत्थरों के द्वारा मवाद आदि को निकाल देते थे। जिससे वे आराम का अनुभव करते थे। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। धीरे-धीरे यही प्रयोग बढ़ता गया और जब प्रस्तर युग में शल्यक्रिया के सम्बन्ध में पर्वत की गुफओं में पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा प्रमाण स्वरूप नुकीले पत्थर के हथियार प्राप्त किये गये हैं। जिससे अनुमान लगाया जाता है कि वे ब्रण आदि का ऑपरेशन उसी नुकीले पत्थरों द्वारा ही कर लेते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे इस युग का मनुष्य टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने का भी कार्य करने लगा। इसके प्रमाण के लिए हमें नवप्रस्तर युग के अवशेष में मनुष्य की ऐसी टूटी हड्डियाँ मिलती हैं जिन्हें 55 प्रतिशत तक जुड़ जाने में सफल पाया जाता है।[11] इस रूप में हमारी शल्य चिकित्सा पद्धति आगे बढ़ती गयी और वैदिक युग के आते-आते पूर्ण विकसित चिकित्सा पद्धति के रूप में सामने आ गयी। कोई भी नया कार्य या नया प्रयोग एकाएक सिद्ध नहीं हो जाते, उनकी सिद्धि में सदियों का मानव व्यवहार ही कार्य करता है। हम मानव व्यवहार एवं प्राकृतिक घटकों के आपसी सहयोग के द्वारा ही किसी नये आविष्कार को जन्म दें पा पाते हैं। एक बात यही भी सही है कि संसार में जो भी आविष्कार या प्रयोग देखे जाते हैं वे सूक्ष्म रूप में सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुए हैं। उनकी सूक्ष्मता ही स्थूलता की ओर प्रवृत्त करती है। इसी रूप में शल्य चिकित्सा पद्धति भी प्रवृत्त हुई। जिसे धीरे-धीरे शल्य चिकित्सा पद्धति माना जाने लगा, जो लोक में होता है वही शास्त्र बनता है। लोक से भिन्न इस संसार का न कोई ज्ञान है और न ही प्रयोग। सब कुछ हम इसी लोक के आधार पर ही प्राप्त करते हैं। चाहे वह रसायन विज्ञान हो या भौतिक विज्ञान या जीव विज्ञान हो, सब कुछ इसी लोक का है। लोक से अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है। इसीलिए भारतीय परम्परा में लोक का अत्यधिक महत्त्व है। लोके च वेदे च का अभिप्राय लोक और वेद दोनों में है। इस तथ्य को इस तरह भी समझा जा सकता है कि वेद किसी तथ्य का सैद्धांतिक पक्ष है और लोक उसका व्यावहारिक। दोनों के विनियोग से ही हमारा सम्पूर्ण जीवन सुवर्धित होता है।

'ऋग्वेद' में अश्विनद्वय की विचित्र शल्य क्रिया इस चिकित्सा पद्धति की प्रमाण हैं। यहाँ बताया गया है कि महाराजाखेल की पत्नी विश्पला की शत्रु द्वारा टांगे (पैर) काट दी जाने पर आश्विन कुमार ने लोहे की जंघा को जोड़ दिया था -

*चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णराजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।*
*सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्।।*[12]

अर्थात् खेल राजा की स्त्री विश्पला का एक पैर युद्ध में पक्षी के पंख की तरह कट गया था। अश्विनद्वव तुमने रातो-रात विश्पला के जाने के लिए तथा शत्रु न्यस्त धन लाभ के लिए उसे लौहमय जंघा दे दी थी। एक रात्रि में इतना बड़ा अंग प्रत्यारोपण यह सूचित करता है कि तद्‌युगीन शल्य क्रिया का विकास अपने चरम अवस्था पर था। इसी प्रकार 'ऋग्वेद' के एक स्थल पर शल्य क्रिया का अद्‌भुत प्रमाण मिलता है। जिसमें बताया गया है कि अश्विनद्वय ने महर्षि दधीचि के असली सिर को हटाकर घोड़े का सिर लगा दिया था तथा उनसे मधुविद्या ग्रहण कर, पुनः असली सिर लगा दिया-

*आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।*
*स वां मधु प्र वोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्यंवाम्।।*[13]

अर्थात् हे शत्रु सहांरक अश्विनी कुमार! अथर्वकुल में उत्पन्न दधीचि ऋषि को अश्व का सिर आप दोनों ने लगया, तब उस ऋषि ने यज्ञमार्ग को प्रसारित करते हुए आप दोनों को मधु का उपदेश दिया था। आप दोनों को शरीर के भग्न अंगों को जोड़ने की विद्या भी सिखाई। इसी तथ्य का प्रतिपादन ऋग्वेद के अन्य स्थल पर भी मिलता है।[14]

महर्षि चरक के अनुसार आयुर्वेद का आविर्भाव ब्रह्मा से हुआ। ब्रह्मा ने अपनी आयुर्वेद की सम्पूर्ण विद्या प्रजापति को, प्रजापति (दक्षप्रजापति) ने अश्विनी कुमारों को और अश्विनी ने इन्द्र को इन्द्र ने भारद्वाज को एवं भारद्वाज ने अन्य ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश दिया था-

*ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तम् आयुर्वेद प्रजापतिः।*
*जग्राह निखिले नादावश्विनौ तु पुनस्ततः।।*
*अश्विभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे हं केवलम्।*[15]

अब प्रश्न उठता है वैदिक अश्विन कुमार और महर्षि चरक का अश्विन कुमार एक है या भिन्न इस विषय में निरूक्त एवं ब्रह्मण ग्रन्थों में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। यथा- द्यावापृथिवी, अहोरात्र, सूर्य-चन्द्र, दो आँख, दो नाक, दो तारें आदि। किन्तु चिकित्सा की दृष्टि से इनकी संगति ठीक नहीं बैठती है। शास्त्रीय दृष्टि से अग्नीषोमीयं जगत् यह सम्पूर्ण जगत अग्नि तत्व (आक्सीजन) और सोम तत्त्व (हाइड्रोजन) से बना है। इन दोनों का समीकरण ही जीवन तत्त्व है। दोनों की अपेक्षित न्यूनता या वृद्धि ही सम्पूर्ण रोगों के जनक माने जाते हैं। इस दृष्टि से अग्नि एवं सोम को अश्विनी का रूप माना जा सकता है। शरीर में प्राण और उपान, अग्नि-सोम के प्रतिनिधि हैं। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में दोनों नाक को अश्विनौ कहा गया है- नासिके अश्विनौ।[16] यह एक अश्विनी कुमार के प्रति अवधारणा मात्र है। यदि हम अश्विनी कुमारों को एक अंग विशेष के रूप में मानने लगेंगे तो अश्विनी कुमार के शल्य चिकित्सा का चमत्कार से संगति नहीं बन पाती है। 'ऋग्वेद' में नेत्र चिकित्सा के विषय में भी उल्लेख मिलता है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है -

*शतं मेषान्वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा।*
*आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे।।*[17]

अर्थात् ऋज्राश्व ने सौ भेड़े, भेड़ियों को वृकी के भक्षणार्थ वध किया था। तब उनके क्रुद्ध पिता ने उन्हें अन्धा बना दिया था। इसके अनन्तर तुमने (अश्विन) उन्हें नेत्र प्रदान किया था। देखने के लिए तुम लोगों ने अन्धा को चक्षु दिया था। अश्विन कुमारों के द्वारा कण्व ऋषि को भी नेत्र ज्योति प्रदान करने का उल्लेख मिलता है।[18] ऋग्वेद में अश्विनी कुमारों को आरोग्य चिकित्सा प्रदान करने हेतु आवाहन करते हुए कहा गया है-

*याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः।*
*याभिर्वर्तिकां ग्रसितामुञ्चतं ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम्।।*[19]

अर्थात् हे अश्विनी कुमारों! जिस सामर्थ्य से आपने पंगु परावृक ऋषि को नेत्रहीन ऋज्राश्व को और पैरों से लंगड़े श्रोण को स्वस्थ किया। भेड़ियों द्वारा मुख में पकड़ी हुई, दांतों से घायल चिड़ियों को अपने सामर्थ्य से युक्त कर के आरोग्य प्रदान किया, उन आरोग्यप्रद चिकित्सा साधनों के साथ आवें। अश्विनी कुमार के विषय में कहा गया है कि वे अन्धें, निर्बलों और घायलों की चिकित्सा के विशेषज्ञ हैं। ऋग्वेद में अश्विनी कुमारों द्वारा छिन्न-छिन्न अंगों को जोड़ने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके सम्बन्ध में कहा गया है-

*त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू।।*[20]

अर्थात् जो श्याव ऋषि असुरों के द्वारा तीन स्थानों से घायलावस्था में पड़े थे, उन्हें जीवनदान देने हेतु आप दोनों के द्वारा उत्तम ढंग से परिचर्या की गयी। असुरों ने रेभ ऋषि को काट कर कूप में डाल दिया था। अश्विनी कुमारों ने उन्हें बाहर निकाल कर उनके छिन्न-भिन्न अंगों की चिकित्सा की।[21] वेदों में अश्विनी कुमारों के अतिरिक्त इन्द्र को भी चिकित्सक बताया गया है। उन्होंने किसी प्लास्टर की सहायता लिए बिना गर्दन आदि की टूटी हड्डियों को जोड़ दिया था और सभी अंग-भंग को भी ठीक किया था।[22] एक प्रश्न उठता है कि अश्विनी कुमारों द्वारा यह शल्य चिकित्सा कैसे सम्पन्न की जाती थी, उनका साधन क्या था? यह शल्य कार्य कैसे किया जाता था? इसके विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है लेकिन यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके द्वारा जो शल्य क्रिया की जाती थी। उस युग के शल्य अस्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। शल्य क्रिया के निमित्त कुछ औषधियों का प्रयोग किया जाता था जिसका संकेत हमें 'अथर्ववेद' से प्राप्त होता है। शल्य कर्म की कुशलता में औषधि का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसमें औषधि विशेष का प्रयोग किया जाता है। जिससे घाव शीघ्र भर जाती है। इस रूप में 'अथर्ववेद' का औषधसूक्त महत्त्वपूर्ण है। जिसमें औषधियों के स्वरूप के साथ-साथ उनके प्रयोग विधि की भी उल्लेख किया गया है। यहाँ रोहिणी नामक औषधि को शल्या क्रिया में सहायक माना गया है। इस औषधि को घाव, चोट, हड्डी टूटने से जोड़ने आदि की चिकित्सा बतायी गयी है, वैद्यक ग्रन्थों में इसके वीरवती (वीरों वाली) चर्मकषा, मांसरोही (चर्म तथा मांस को स्थापित करने वाली) प्रहारवल्ली (प्रहार के उपचार में प्रयुक्त) आदि नाम दिये गए हैं। मंत्रों में इसकी ऐसी ही उपचारपरक विशेषताओं का वर्णन है। पूर्वकाल के युद्धों के समय वैद्यगण रातभर में योद्धाओं के घावों का उपचार करके उन्हें प्रातः फिर से युद्ध के योग्य बना देते थे। इन मन्त्रों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि कटे हुए अंगों की हड्डी से हड्डी, मांस से मांस, चमड़ी से चमड़ी जोड़ने की क्षमता उन्हें प्राप्त थी। रुधिरमांस, हड्डियों को आवश्यकतानुसार बढ़ाने की कला भी उन्हें ज्ञात थी। जिनका क्रमशः वर्णन 'अथर्ववेद' में किया गया है। रोहिणी और अरून्धति नामक औषधि के चिकित्सा के विषयों में कहा गया है-

*रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी।*
*रोहयेदमरुन्धति।*[23]

अर्थात् हे लाल वर्ण वाली रोहिणी! आप टूटी अस्थियों को पूर्णता प्रदान करने वाली हैं। हे अरुन्धति इस घाव को भर दें। और भी -

*यत ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।*
*धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः।।*[24]

अर्थात् हे घायल मनुष्य आपके अंग चौट खाये हुए या जले हुए हैं प्रहार से जो अंग टूट या पिस गये हैं। उन समस्त अंगों को देवगण इस भद्रा औषधि ठीक कर दें। यहाँ और भी अन्य औषधियों के विषय में कहा गया है -

*सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।*
*सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु।।*[25]

अर्थात् आपके शरीर में स्थित छिन्न-भिन्न मज्जा पुनः बढ़कर सुखकारी हो जाए, पोरु से पोरु जुड़ जाये। मांस का छिन्न-भिन्न हुआ भाग तथा हड्डी भी जुड़कर ठीक हो जाए। पुनः कहा गया है -

*मज्जा मज्जा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।*
*असृक ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु।।*[26]

अर्थात् छिन्न-भिन्न मज्जा-मज्जा से, मांस-मांस से, तथा चर्म-चर्म से मिल जाए। रुधिर एवं हड्डियाँ भी बढ़ जायें। पुनः अन्य प्रकार से कहा गया है -

*लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।*
*असृक ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे।।*[27]

अर्थात् हे औषधे शस्त्र प्रहार से अलग हुए आप रोम को रोम से त्वचा को त्वचा से मिलाकर ठीक कर दें तथा आपके द्वारा हड्डियों का रक्त दौड़ने लगे। टूटे हुए अन्य अंगों को भी आप जोड़ दें। यहाँ इस सम्बन्ध में और भी कहा गया है -

*स उत् तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपाविः सुनाभिः।*
*प्रति तिष्ठोर्ध्वः।*[28]

अर्थात् आप स्वस्थ होकर अपने शयन स्थान से उठकरके वेगपूर्वक गमन करें। जिस प्रकार श्रेष्ठ चक्रों वाले सुदृढ़ नेमि वाले तथा सुदृढ़ नाभि वाले रथ दौड़ते हुए प्रतिष्ठित हैं। यहाँ स्पष्टतः निर्देश दिया गया है कि अस्थि मज्जा इत्यादि से पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति ही दौड़ने में सक्षम हो। यहाँ अंगों को जोड़ने की बात भी कही गयी है -

*यदि कर्तं पतित्त्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहतो जघान।*
*ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः।।*[29]

अर्थात् घाव धारवाले शस्त्र के प्रहार से हुआ हो या पत्थर की चोट से हुआ हो, जिस प्रकार ऋभुदेव रथों के अंग-अवयव जोड़ देते हैं वैसे ही पोरु से पोरु जुड़ जाये। यहाँ शल्य चिकित्सा में विशेष सहयोग प्रदान करने वाली रोहिणी सात औषधियों का सामुहिक नाम है। यथा मंजीठ कुटकी, हरड़, गंभीर, ब्राह्मी वन्दा और हल्दी। इस औषधि से युद्ध में घायल योद्धाओं का उपचार होता था और रात भर में वे स्वस्थ होकर दूसरे दिन युद्ध करने के योग्य हो जाते थे। इसमें कटे हुए अंगों इत्यादि को जोड़ने की अपार शक्ति होती थी। जिसे महाभारत काल में स्नेह लेप के नाम से जातना जाता था। 'अथर्ववेद' में शरीर में बाण लगने तथा उसका विष फैलने का भी उल्लेख मिलता है। अंगों में चुभे हुए बाण आदि को चीर-फाड़कर बाहर निकाला जाता था और उसके स्थान को पूर्णतया निरोग कर दिया जाता था -

*यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।*
*इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि।।*

*यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः ।*
*तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ।।*[30]

अर्थात् हे पीड़ित! शूलरोग के अधिष्ठाता देव, रुलाने वाले रुद्रदेव ने तुम्हारे अंगों एवं हृदय को बाधने के लिए वाणों को फेका है। हम आज उन्हें उखाड़ते हैं। हे शूल रोगी पुरुष! तुम्हारे शरीर के अंगों एवं धमनियों आदि की विषाक्तता को इन औषधियों के द्वारा समाप्त कर, उन्हें विष रहित करते हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में भी औषधियों के महात्म्य का वर्णन किया गया है जो तत्कालीन शल्य चिकित्सा पद्धति के रूप में अग्रगण्य मानी जाती थी। वहाँ कहा गया है कि संजीवकरणी, और विशल्यकरणी औषधियों के सुगन्ध से राम और लक्ष्मण स्वस्थ्य हो गये, उनके शरीर से वाण निकल गये और घाव भर गये। इसी प्रकार अन्य बन्दर आदि जो घायल हुए थे वे सब इसी औषधि के सुगन्ध से देर रात तक निरोग हो गये।[31] जैसा कि प्रसिद्ध है 'अथर्ववेद' औषधि वेद है। यहाँ अनेक सूक्तों में औषधि के द्वारा शल्य चिकित्सा का वर्णन मिलता है। 'अथर्ववेद' के चौथे काण्ड में सत्रह-अट्ठारह सूक्त में 'अपामार्ग वनस्पति का वर्णन आया है। जो शल्य चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'यजुर्वेद' के एक मन्त्र में वर्णित है कि वायु के ज्ञाता हिसांकारी प्रबल आधण्ड के समय उचित उपाय जानने वाले वास्तु विद्या के ज्ञाता, गृहों, महलों, राजप्रसादों की रक्षा के विज्ञान को जानने वाले, सोम आदि औषधियों के विद्वान् वैद्य (शल्यचिकित्सक) और शत्रुओं को पराजित करने वाले, इन सब पुरुषों को योग्य पदभार, मान और वेतन प्राप्त हो।[32] यजुर्वेद में रुद्र को ही औषधि स्वरूप माना गया है जो सब प्रकार से मानव का कल्याण ही करता है-

*या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।*
*शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ।।*[33]

अर्थात् हे रुद्रदेव! जे आपका कल्याणकारी रूप है जो विश्व की व्याधि को मुक्त करने वाला औषधि रूप है। शरीर को नवजीवन प्रदान करने वाला औषधिरूप बल है। अपने उस बल से हमें हमारे जीवन को सुखी बनावें। यजुर्वेद में यज्ञ के फलस्वरूप में जब ऋषि भौतिक सम्पदाओं की कामना करता है तो उसमें अनेक औषधीय तत्त्वों की भी कामना करता है-

*अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे*
*वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे*
*सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।*[34]

अर्थात् यज्ञादि कर्मों के फल से हमारे (खनिज तत्व) पाषाण, उत्तम मिट्टी, छोटे-बड़े पर्वत, रेत, वनस्पतियों, सुवर्ण, लोहा, ताम्रलौह, श्यामलौह, सीसा, और टीन आदि की बढ़ोत्तरी होती रहे। ऋषि की यह कामना शल्य चिकित्या के यंत्रों के ओर संकेत करता है क्योंकि शल्य चिकित्सा के यंत्र इन्ही धातुओं से ही निर्मित किये जाते हैं। 'सामवेद' में इन्द्र को शल्य चिकित्सक के रूप में उल्लेखित किया गया है-

*य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।*
*सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ।।*[35]

अर्थात् जो इन्द्रदेव गले के स्नायुओं से रक्त निकलने पर बिना सामग्री के ही संधियों को जोड़ देते हैं। इस प्रकार इन्द्र भी शल्य चिकित्सक थे। जो बिना किसी सामग्री के ही अंगों को जोड़ने में कुशल थे। इन युद्धीय शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त वेदों में अन्य रोगों के शल्य चिकित्सा के विषय में बताया गया है। मूत्राशय को चीणकर गर्भ को बाहर करने तथा रुके हुए मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकालने का उल्लेख 'अथर्ववेद' में प्राप्त होता है -

*वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।*
*वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्।*[36]

अर्थात् हे प्रसुता! निर्विघ्न प्रसव के लिए गर्भमार्ग, योनि एवं नाड़ियों को विशेष प्रकार से खोलता हूँ। माँ व बालक को नाल से अलग करता हूँ। जो पूर्णरूप से पृथ्वी पर गिर जाये। ऐसी स्थिति में गर्भशय का विदारण करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा सुश्रुत का भी मत है।[37] मूत्र कृच्छ्र एवं अश्मरी रोगों में मूत्रशय में, मूत्राशय की पार्श्ववर्ती गवीनी में या वृकों में मूत्र रुक जाता है। शल्य क्रिया आदि के द्वारा यह बाहर किया जाता है। इसके विषय में आचार्य सुश्रुत अपने संहिता ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं।[38] अथर्ववेद में बताया गया है कि आंतों में जो मूत्र रुका है, गवीनियों या मूत्राशय में जो मूत्र रुका है, उसे बाहर निकालता हूँ। जैसे झील में रुके हुए जल को बाँध तोड़कर बाहर निकाला जाता है उस प्रकार पौरुष ग्रन्थी में रुके हुए मूत्र को मैं बाहर निकालता हूँ -

*यदान्त्रषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।*
*एवा ते मूत्रं मूच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।।*
*प्रत्रंते भिनद्मि मेहनं वर्त्तं वेशन्त्या इव।*
*एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।।*[39]

जब पौरुषग्रन्थी (पोस्टेट) बढ़ जाती है तो मूत्र रूक जाता है। आधुनिक समय में भी पोस्टेट के कारण ही मूत्र नली बन्द हो जाती है, जिससे मूत्र बाहर नहीं निकलता है। ऐसी स्थिति में ऑपरेशन के द्वारा उसे ठीक किया जाता है। जिसे मूत्राघात चिकित्सा कहते हैं। इसी प्रकार मूत्र नाड़ी चिकित्सा का भी उल्लेख 'अथर्ववेद' में मिलता है। मूत्रनाड़ी चिकित्सा के लिए शर (सरकंडा) का उपयोग बताया गया है -

*विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।*
*तेना ते तन्वे*[3] *शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति।*[40]

वर्तमान समय में इसी का विकसित रूप कैथेटर विधि है, जिसके सहायता से रुके हुए मूत्र को बाहर निकाला जाता है। यहाँ कुछ औषधियों के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है जिसके सहायता से रुका हुआ मूत्र बाहर आ जाता है-

*यथेषुका परापतदव सृष्टाधि धन्वनः।*
*एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।।*[41]

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में बताया गया है कि कपूर का चूर्ण मूत्रनली (लिंग) में प्रविष्टि किया जाये तो मूत्र सहजता से बाहर आ जाता है,[42] यह चूर्ण दूर्वा या इषीका (सरकंडा) के द्वारा प्रविष्ट कराया जाता है। 'अथर्ववेद' पर्जन्य के अतिरिक्त मित्र, वरुण चन्द्र एवं सूर्य इन पांच देवों को मनुष्य का संरक्षक बताया गया है।[43] ये पांच देव अनेक प्रकार से मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पति इत्यादि को आरोग्य प्रदान करते हैं। 'अथर्ववेद' के मूत्र मोचन सूक्त में उल्लेखित मन्त्र- 'तेना ते नन्वे शं कारम्' के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इन्हीं पांच देवों की योग्यता से शरीर के सब दोष बाहर निकल जाते हैं।

मूत्र के सहजता से बाहर निकल जाने पर शरीर के बहुत दोष समाप्त हो जाते है। यह शरीर विषों की खान है। शरीर के सब विष मूत्ररूप में एकत्रित होते है और उसी रूप में बाहर निकलते हैं। यदि किसी कारण से मूत्र जब रुक जाता है तो सभी विष शरीर में फैलने लगता है और स्थिति यह हो जाती है कि रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसलिए मनुष्य शरीर के आरोग्य के लिए मूत्र-उत्सर्ग नियम पूर्वक होना आवश्यक है। अतः मूत्र को बाहर निकलने के लिए शल्य चिकित्सा की जाती है, या औषधि प्रयोग से उसे बाहर निकाला जाता है। जैसे कि

पहले भी बताया जा चुका है कि जब पौरुष ग्रन्थि (पोस्टेट) बढ़ जाती है तो मूत्र अवरुद्ध हो जाते हैं और पौरुष ग्रन्थि की शल्य क्रिया (ऑपरेट) द्वारा मूत्र को बाहर निकाला जाता है। यहाँ जो मेहन शब्द आया था उसका से अभिप्रेत पैरुष ग्रन्थि है। उसके बढ़ने से जब मूत्र अवरुद्ध हो जाता है। तब मूत्राशय को विदीर्ण कर मूत्र को बाहर निकाला जाता है। इससे अश्मरी रोग की शल्य चिकित्सा की प्रतीती होती है। 'सुश्रुतसंहिता' में अश्मरी की चिकित्सा शल्य कर्म द्वारा बताई गयी है।[44] आचार्य सुश्रुत अपने ग्रन्थ के एक स्थल पर लिखते हैं कि यदि अश्मरी रोग जल्द का हो तो उसे औषधि द्वारा दूर किया जा सकता है।[45] लेकिन यदि वह पुराना हो तो शल्य कर्म द्वारा उसे दूर करने में सफलता मिलती है।[46] यही भाव अथर्ववेद के मूत्र मोचन सूक्त से भी प्राप्त होता है। वहाँ प्रारम्भ में औषधि प्रयोग और बाद शल्य चिकित्सा के क्रमशः प्रयोग से पृथ्वी पर मूत्र निषेचन की कामना की गयी है।

वेदों में मनुष्य चिकित्सा के अतिरिक्त पशु-चिकित्सा पर भी विशेष बल दिया गया है। वैदिक संस्कृति में जीव मात्र के सुस्वास्थ्य की कामना की गयी है। सम्पूर्ण प्रकृति जब स्वस्थ रहती है तभी आनन्द घन की वर्षा होती है। इस रूप में हमारी प्रकृति को स्वस्थ रहना अति आवश्यक है। पशुओं के द्वारा हमें पूर्ण और शुद्ध आहार प्राप्त होता है। यदि वे स्वस्थ नहीं रहेंगे तो हमें पूर्ण आहार नहीं दे सकेंगे। फलतः उनके स्वास्थ एवं कुशल-क्षेम के लिए वैदिक साहित्य पूर्ण तत्पर दिखलाई पड़ता है। 'यजुर्वेद' में रुद्र को महान् चिकित्सक माना गया है। वे केवल मनुष्य के ही रोगों को दूर नहीं करते अपितु गाय, घोड़े, भेड़ और बकरी आदि के रोगों को भी नष्ट करते हैं।

*भेषजमसि भेषजं गवेश्वाय पुरूषाय भेषजम्।*
*सुखं मेषाय मेष्यै।।*[47]

'यजुर्वेद' के रुद्राध्याय में भी पशु चिकित्सा के व्यापक सन्दर्भ मिलते हैं। रुद्र पशुओं के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहता है। पशुओं के रोग-निदान के सम्बन्ध में बताया गया है-

*द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित। आसां प्रजानामेषां पशूनां*
*मा भेर्मा रोङ्मो च नः किं चनाममत्।।*[48]

अर्थात् हे रुद्र देव! आप पापियों को अधम गति में ले जाने वाले अन्नादि के स्वामी, अपरिग्रही, नील, लोहित वर्ण वाले हैं। आप इन प्रजाओं-पशुओं को कष्ट में न पड़ने दें। पशुओं में भय न आने दें और किसी भी प्रकार हमें रोग ग्रस्त न होने दें। यहाँ ऋषि सम्पूर्ण जगत् को भय रहित व रोग रहित होने की कामना किया है। मनुष्य के साथ पशु भी निर्भय होकर विचरण करें। इसी में सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण है।

'यजुर्वेद' की भाति 'अथर्ववेद' भी पशु चिकित्सा के जिए सजग दिखलाई पड़ता है। यहाँ भी गाय आदि पशुओं की चिकित्सा का उल्लेख मिलता है -

*वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्।*
*इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकत्सतु।।*[49]

अर्थात् वायुदेव इन गौओं को एकत्रित करें। त्वष्टा देव इन्हें पुष्ट करें। इन्द्र देव इन्हें स्नेह युकत वचन कहें। रुद्रदेव इनकी चिकित्सा करें और बढ़ायें। इस प्रकार व्यापक रूप से पशु संरक्षण का उपदेश हमें वेद देते हैं। 'अथर्ववेद' में अश्विनी कुमार और रुद्र को पशुओं का चिकित्सक बताते हुए कहा गया है कि गायों के कानों को गर्म लोटे से दाग देने से उनका स्वास्थ अच्छा रहता है और उनकी पशु सन्तति सुवृद्धि करती है-

*लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।*
*अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु।।*[50]

आज भी अग्नि चिकित्सा का प्रयोग पशुओं के लिया किया जाता है। विशेष रूप से दागने (गर्म लोहे का स्पर्श) की व्यवस्था पशुओं में उस समय की जाती है जब कोई व्रण ठीक न हो रहा हो और उसमें कीड़े पड़ गये हो तो गर्म लौह पिण्ड से दागने से सभी कीड़े समाप्त हो जाते हैं। फलतः व्रण ठीक हो जाता है। 'अग्निपुराण' में भी गज, अश्व एवं गौ चिकित्सा का उल्लेख मिलता है। अग्नि पुराण के अध्याय 287, 291 में गजचिकित्सा, अध्याय, 281, 290 में अश्व चिकित्सा एवं अध्याय 212 में गौ चिकित्सा का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी शल्य चिकित्सा के कुछ प्रयोग मिलते हैं। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं के कर्मकाण्ड पक्ष को ही विशेष रूप से प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ हैं। लेकिन यत्र-तत्र उनमें चिकित्सा सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया गया है। वहाँ यज्ञ के द्वारा शल्य चिकित्सा का वर्णन मिलता हैं। एक बार वृत्र के साथ युद्ध करते हुए देवता लोग वाण से विध गये थें उन बाणों को त्रयम्बक यज्ञ के द्वारा बाहर निकाला गया और सभी देवता स्वस्थ हुए।[51] इसी प्रकार एक स्थल पर और बताया गया है कि रुद्र का बाण प्रजापति को लग गया था। देवों ने उस बाण को निकालने के लिए पहले जल चिकित्सा की परनतु सफलता न मिलने पर प्रजापति के शरीर के कुछ अंश को काटकर वाण निकाला गया।[52] षड्विंश ब्राह्मण में व्रण का उल्लेख प्राप्त होता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में भी व्रण, अजीर्ण, अनिद्रा आदि हो जाता है। अनिद्रा से कभी-कभी नेत्र दोष भी उत्पन्न हो जाता हैं। इन सबके दूर करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित बतलाये गये हैं।[53] वस्तुतः ये प्रायश्चित कही न कही आयुर्वेद के उपयोग के दृष्टि से बतलाये जाते हैं। जिससे रोगी स्वस्थ हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि चाहें जाघें चीरना ही क्यों न पड़े, गर्भ को निकाल लेना चाहिए। अध्वर्यु कहता है कि गर्भ को निकालो क्योंकि बिना कटे तो कोई गर्भ को नहीं निकालता है। जब तक कि माता रोगी हो या रोगी न हो या मर गयी हो या जब गर्भ का समय पूर्ण हो गया हो तो वह स्वयं बाहर निकल आता है -

यजमानश्च पुनरेतः सः आदुदाध्वयुनिंरुहेतं गर्भ मिति त ह नोदरतो निरुह्वेदार्ताया वै मृताया उदरतो निरुहन्ति यदा वै गर्भः। स्मृद्धौ भवति प्रजनेन वै स तर्हि प्रत्यङडेति तमपि विसाय श्रोणी प्रत्यन्चनिरुहित वै ब्रुयात्।[54]

इसी प्रकार आगे भी एक स्थल पर शल्य विधि से गर्भ निकालने का उल्लेख प्राप्त होता है।[55] एक स्थल पर अश्विनी कुमारों ने त्वष्टा के पुत्र के कटे सिर की चिकित्सा सोमरस से की थी। इसका भी उल्लेख मिलता है।[56] ब्राह्मण साहित्य वस्तुतः ज्ञान यज्ञ के विधि पक्ष पर केन्द्रित होता है, आरण्यक में वही ज्ञान आध्यात्म तत्व के खोज संलग्न रहता है। इस प्रकार आरण्यक भी उसी भाष्य परम्परा का ग्रन्थ है, जिस परम्परा के ब्राह्मण ग्रन्थ है। अन्तर केवल इतना है कि एक यज्ञ पक्षीय व्यवस्था का संचालन करता है तो दूसरा आत्मिक सन्दर्भों की व्याख्या करता है। आरण्यक भी आयुर्वेद के सिद्धान्तों को लेकर चलने वाला ग्रन्थ है क्योंकि आयु के बिना न तो आध्यात्म समझा जा सकता है और न यज्ञ का विनियोग। इसलिए आरण्यक ग्रन्थों में भी शल्य चिकित्सा का वर्णन किया गया है। शल्य चिकित्सा के माध्यम से अनेक जीर्ण रोगों का उपचार बहुत ही अल्प समय में हो जाता है। यही इसकी सार्थकता है। आयुर्वेद वस्तुतः जीवन का विज्ञान है। मानव जीवन के साथ यह सर्वतो भावेन सम्बद्ध रहता है। यह सर्वहित सम्पादक जीवना धावक का अपरोक्ष विज्ञान है। अतः जीवन के सम्बन्ध में जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह सब आयुर्वेद के ही अन्तर्गत आता है। चाहे वह शल्य चिकित्सा हो या अन्य। व्याधि से पीड़ित रोगियों के रोग से विमुक्ति मिले तथा जीवन आरोग्य सुस्वास्थ्य सम्पन्न होकर आत्म तत्व के अन्वेषण में सदा संलग्न रहे यही तो आरण्यक ग्रन्थों का उद्देश्य है।

उपनिषदों को भारतीय ज्ञान का मूल उत्सभूमि माना जाता है। चेतना का प्रथम प्रवाह उपनिषदों से ही प्रारम्भ होता है। उपनिषद् केवल आध्यात्म की गुत्थी को ही नहीं सुलझाती बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मबल की भी प्रेरणा देती है। मृत्यु से अभय तथा सत्य के ज्ञान का कोश उपनिषदें ही हैं। मानव जीवन को एक वृक्ष की उपमा दी गयी है। जीवन रूपी वृक्ष के पूर्ण रूपेण रोग विमुक्त, स्वस्थ रहने पर ही इसमें उत्तम पुष्पों उद्भव होगा और तभी श्रेष्ठ सुमधुर फलों से यह समृद्ध होगा। वैसे उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय आत्म तत्व विवेचन है। आत्म ज्ञान ही उपनिषदों का निचोड़ है। इसलिए आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सदैव तत्पर रहना चाहिए -

*उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।*
*क्षूरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।*[57]

अर्थात् हे मनुष्यों! तुम जन्म-जन्मान्तरों से अज्ञान निद्रा में सो रहे हो। अब तुम्हें परमात्मा की कृपा से यह दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त है। इस दुर्लभ शरीर को प्राप्त कर एक क्षण भी आलस्य मत करो। शीघ्र सावधान हो जाओ। श्रेष्ठ महापुरूष के समीप जाकर ईश्वर के रहस्य को जानो। परमात्म तत्व बड़ा गहन विषय है। उसके स्वरूप का ज्ञान, उसकी प्राप्ति का मार्ग महापुरुषों की सहायता और परमात्मा की कृपा बिना वैसे ही दुस्तर है जिस प्रकार छूरे की तेज धार पर चलना कठिन होता है। यही छूरे की तेज धार ही उपनिषदों की शल्य चिकित्सा की जन्म भूमि है। छौर कर्म द्वारा ही शल्य चिकित्सा सम्पदित की जाती है और यह कर्म बहुत ही कठिन माना जाता है। समाज में सबसे बड़ा चिकित्सक शल्य चिकित्सक ही होता है। वह छूरे की तेज धार पर ही गमन करता है। उसके द्वारा तनिक भी असावधानी रोगी के प्राण को संकट उत्पन्न कर देता है। उपनिषदों में भी रुद्र को सभी जीव मात्र का स्वामी संरक्षक पालक आदि माना गया है।[58] उपनिषदों में शरीरांगों के वर्णन स्थल प्राप्त होते हैं। शल्य चिकित्सा के लिए अंगों का ज्ञान अति आवश्यक है। अंगों का ज्ञान शल्य चिकित्सा के विकास की सीमा की ओर भी संकेत करता है। कठोपनिषद् में अंगों का विशेष रूप से वर्णन इस रूप में प्राप्त होता है-

*शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासांमूर्धानमभिनिः सृतैका।*
*तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।*[59]

अर्थात् हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक कपाल की ओर निकलती है। साधक उससे उर्ध्व लोक में पहुँचकर अमरत्व को प्राप्त करता है। अन्य एक सौ नाड़ियाँ मरने के बाद विभिन्न योनियों को जन्म देने वाली हैं। छान्दोग्योपनिषद् में भी हृदयस्थ्य नाड़ियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है -

*अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिड़ललस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति*
*शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहित्स्येतयसौ वा आदित्यः एष*
*शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः।*[60]

अर्थात् ये जो हृदय की नाड़ियाँ हैं वे पिंगलवर्ग तथा सूक्ष्म रस की हैं। इसी प्रकार वे नाड़ियाँ शुक्ल, नील, पीत और लाल रंग से पूर्ण हैं। क्योंकि यह आदित्य पिंगलवर्ण वाला है, यह शुक्ल वर्ण वाला है, यह नील है, यह पीत है और यह लाल हैं। इस प्रकार आदित्य से सम्बद्ध होने के कारण ये नाड़ियाँ वैसे ही वर्ण विशेष वाली हो जाती हैं। इसके सम्बन्ध में भाष्यकार का कहना है कि ब्रह्मोपासना के स्थान कमल के आकार वाले हृदय की नाड़ियाँ भी उसी प्रकार मांस पिण्ड से चारों ओर निकली हुई हैं जिस प्रकार सूर्य मण्डल से उसकी किरणें निकलती हैं। यह पिङ्गलर्ण से युक्त, अन्न के सूक्ष्म रस से पूर्ण, अन्न-रस के आकार में ही स्थित रहती हैं। अन्न, शुक्ल, नील, पीत एवं लोहित रस से पूर्ण है ऐसा सर्वत्र अध्याहार कर लेना चाहिए। पित्ताशय सौर तेज के छार खाए एवं पीये हुए पदार्थ पचते हैं, उससे अल्प कफ के सम्पर्क से यह पित्ताशय सौर तेज पिङ्गल वर्ण का हो जाता है। उसके सम्बन्ध में नाडी का रस भी पिङ्गल हो जाता है। वही पित्ताशय सौर तेज पाचन

क्रिया से निष्पन्न हो अधिक वायु के सम्पर्क से नील हो जाता है। उसके सम्बन्ध से नाड़ियों के अन्नरस का नील वर्ण हो जाता है। वहीं पित्ताशय सौर तेज पाचन क्रिया से निष्पन्न हो अधिक वायु के सम्पर्क से नील हो जाता है। उसके सम्बन्ध से नाड़ियों के अन्नरस का नील वर्ण हो जाता है। वही पित्ताशय सौर तेज पाचनक्रिया से निष्पन्न हो कफ की बहुलता से शुक्ल वर्ण का हो जाता है, उसके सम्पर्क से नाड़ियों का अन्न रस का नील वर्ण हो जाता है, उसके सम्पर्क से नाड़ियों के अन्न रस का पीला रंग हो जाता है। जब उपरोक्त पाचन क्रिया से निष्पन्न रक्त की बहुलता होती है तब पित्ताशय सौर तेज लाला रंग का होता है। यह आयुर्वेद का विशेष पक्ष है कि रस धात्वन्तर में किस प्रकार परिणत होता है यह एक अनुसंधान का विषय है जो शल्य क्रिया के लिए बहुत उपयोगी है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी मांस पिण्ड रूप हृदय से सम्बन्धित एक सौ एक नाड़ियों का वर्णन मिलता है।[61] हृदय की क्रिया के सम्बन्ध में वृहदारण्यक उपनिषद् में विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ बताया गया है-

'एष प्रजापतिर्यद हृदयमेतद् ब्रह्मौतत् सर्वं तदेतत त्रयक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकम क्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चन्ये च य एव वेदयमित्येकमक्षरमेति। स्वर्गं लोकं य एवं वेद'।[62] अर्थात् जो हृदय है, वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, यह सर्व है यह हृदय तीन अक्षर वाला है। 'हृ' यह एक अक्षर है। उसके प्रति स्वजन और अन्य जन बलि समर्पण करते हैं, आहरण करते हैं। 'द' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते हैं। 'य' एक अक्षर जो ऐसा जानता है वह स्वर्ग लोक को गमन करता है। इस प्रकार इस तथ्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि हृदय की कार्य प्रणाली का ज्ञान वैदिक ऋषियों को सम्यकतया थी। हृदय इन तन अक्षरों में सम्पूर्ण हृदय की गति विधि का वर्णन है। वह आहरण करता है, सबको रक्त देता है और निरन्तर गमन करता है। यही हृदय की विशेषता है। कठोपनिषद् में भी हृदय का वर्णन आया है।[63] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ब्रह्मा का निवास स्थल हृदय बतलाया गया है।[64] 'वृहदारण्यकोप-निषद्' में मनुष्य को जीवन कैसे प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में विस्तार से उल्लेख किया गया है-

*तस्मादग्नि समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य औषधयः पृथिव्याम्*
*पुमानूरेतः सिंचति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूता।।*[65]

अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मा से अग्नि तत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसकी समिक्षा से सोम उत्पन्न हुआ, सोम से मेघ उत्पन्न हुए और मेघों से वर्षा द्वारा पृथ्वी पर नयी प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न हुई। इन औषधियों के भक्षण से उत्पन्न वीर्य सिंचन पुरुष ने स्त्री में किया इस प्रकार उस परम पुरुष से ही नाना प्रकार की प्रजाएं उत्पन्न हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद के रूप में शल्य चिकित्सा की गहन मीमांसा की गयी है और मनुष्य के दीर्घ जीवन की कामना की गयी है। मनुष्य का दीर्घ जीवन ही आयुर्वेद का लक्ष्य है।

*संस्कृत विभाग*
*डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय*
*सागर (म.प्र.) 470003*

**सन्दर्भ -**

1. *आप्टे वामन शिवराम्, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 1006*
2. *रघुवंश, 9/78*
3. *वही, 9/65*
4. *अभिज्ञानशाकुन्तल,6/9*

5. वही, 6/25
6. उत्तररामचरित, 3/35
7. सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थानम्-अश्मरी, चिकित्साध्याय-7/27
8. वही, 7/28
9. वही, 7/29
10. विश्वकर्मा रामजीत, वैदिक साहित्य में शल्य चिकित्सा एक अध्ययन पृ.12
11. वही, पृ. 13
12. ऋग्वेद, 1/116/15
13. वही, 1/117/22
14. वही, 1/116/12
15. चरक संहिता, 4/5
16. शतपथब्राह्मण, 12/9/1/14
17. ऋग्वेद, 1/117/17
18. वही, 1/117/8
19. वही, 1/112/8
20. वही, 1/116/24
21. वही, 1/117/24
22. वही, 8/1/12 सामवेद, पूर्वार्चिक, 3/412
23. अथर्ववेद, 4/12/1
24. वही, 4/12/2
25. वही, 4/12/3
26. वही, 4/12/4
27. वही,4/12/5
28. वही, 4/12/6
29. वही, 4/12/7
30. वही, 6/90/1-2
31. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड
32. यजुर्वेद, 16/19
33. वही, 16/49
34. वही, 18/13
35. सामवेद, पूर्वार्चिक, इन्द्रपर्व, 3/14/2
36. अथर्ववेद, 1/11/5
37. सुश्रुतसंहिता, 15/12-13
38. वही, 7/32
39. अथर्ववेद, 1/3/6-7
40. वही, 1/3/1
41. वही, 1/3/9
42. आयुर्वेद संग्रह,
43. अथर्ववेद 1/3 (मूत्र मोचन सूक्त)
44. सुश्रुत संहिता, 6/30-38, 15/12-13
45. सुश्रुत संहिता, 7/3
46. वही, 6/26
47. यजुर्वेद, 3/59

*48. वही, 16/47*
*49. अथर्ववेद, 6/141/1*
*50. वही, 6/141/2*
*51. शतपथ ब्राह्मण 2/612/1*
*52. वही, 1/7/4/10*
*53. षड्विंश ब्राह्मण, 6/4/2*
*54. शतपथ ब्राह्मण, 4/5/2/3*
*55. वही, 4/5/2/10*
*56. वही, 5/5/4/11*
*57. कठोपनिषद्, 1/3/14*
*58. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4/12-13*
*59. कठोपनिषद्, 2/3/16*
*60. छान्दाग्योपनिषद्, 2/6/1*
*61. वही, 8/6/6*
*62. वृहदारण्यकोपनिषद्, 5/3/1*
*63. कठोपनिषद्, 2/3/16*
*64. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3/13*
*65. मुण्डकोपनिषद्, 2/1/5*

# स्वतंत्रता आंदोलन को आदिवासी प्रतिसाद
## (गुजरात के आदिवासियों के विशेष सन्दर्भ में)

*अरूण वाघेला*

**प्रस्तावना**

गुजरात के इतिहास लेखन में आदिवासियों का इतिहास कुछ अपवादों को छोड़कर उपेक्षित क्षेत्र रहा है। आदिवासियों का परंपरित आंदोलन (Autonomous Adivasi Movements), स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासिओं का योगदान, आदिवासी नेतृत्त्व जैसे महत्वपूर्ण पहलू अनछुए रहे हैं। इस बात को मद्दे नजर रखते हुए इस शोधपत्र में 'भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को आदिवासी प्रतिसाद' शीर्षक के माध्यम से एक कमी पूरा करने का नम्र प्रयास किया है। यह शोधपत्र आदिवासिओं के कोई एक आंदोलन या विद्रोह पर नहीं किन्तु 1857 से 1947 के दौरान उनकी स्वराज आंदोलन में लड़ने की तराह (pattern) पर है। प्रस्तुत विषय को सीमित दायरे में रखने और शोधक्षेत्र का व्याप बढ़ाने के लिये निम्न लिखित पहलुओं को केन्द्र में रखा गया है। (1) गांधी के पूर्व आदिवासियों के हिंसक विद्रोह। (2) स्वतंत्रता संग्राम और गांधीवादी रचनात्मक प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि के रुप में आदिवासीयों के Autonomous Movements और प्रवृत्तियों का योगदान। (3) सन 1857 से 1947 के दौरान 90 वर्ष में आदिवासिओं की बदलती मानसिकता और उस का आदिवासियों के संदर्भ में मूल्यांकन। समग्रतया, 19 वीं शताब्दि में हिंसक विद्रोह से प्रारंभ हुई आदिवासिओं की स्वतंत्रता संग्राम की यात्रा 1947 तक अहिंसक संघर्ष में कैसे तब्दील हुई? यह मुद्‌दा प्रस्तुत शोधपत्र का प्रधान मुद्‌दा है? अब इन मुद्दों के बारे में विस्तार से ब्यौरा लेते हैं। शोधपत्र के आरंभ में गुजरात के आदिवासी इलाके की भूगोल, आदिवासी जातियाँ, उनकी आबादी पर नजर कर लेना आवश्यक होगा। भारत के आदिवासी बाहुल्य वाले राज्यों में से एक गुजरात भी है। गुजरात में करीब 15 प्रतिशत आबादी आदिवासियों की है। जो बनासकांठा जिले के दांता से लेकर दक्षिण गुजरात में डांग जिले तक फैली हुई है। जो पूर्व पट्टी के आदिवासियों के नाम से जाने जाते है। यह इलाका भौगोलिक दृष्टिकोण से $18^0$ से $25^0$ उत्तर अक्षांश और $68^0$ से $75^0$ पूर्व देशांतर के बीच स्थित है। यहाँ भील, चौधरी, ढोड़िया, दुबला, गामीत, नायका, राठवा, वसावा, जैसी आदिवासी जातियाँ मुख्य रुप से बसी हुई हैं। गुजरात के आदिवासी भारत की आदिम जातियाँ (aboriginal) का प्रतिनिधित्व करते है। वेदकाल से यह आदिवासी इतिहास के मंच पर विविध भूमिका अदा करते हुए दिखाई पड़ते है। जिसका आधार ग्रंथस्थ साहित्य और आदिवासियों के कंठस्थ साहित्य में से प्राप्त होते हैं। भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में इतिहास निर्माण के कार्य मे आदिवासियों की भागीदारी बढ़ती चली थी। शोधपत्र का एक हिस्सा गांधी पूर्व के आदिवासियों के हिंसक विद्रोह को जानने के लिये 19 वीं शताब्दी को आदिवासी प्रवृत्तियाँ पर दृष्टिपात करते हैं।

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 101-111*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

**गांधी पूर्व के आदिवासियों के हिंसक विद्रोह (सन् 1857 - 1922)**

सन् 1818 में अंग्रेजो ने मराठों से गुजरात जीता। परंतु एक ही समय पर पूरा गुजरात अंग्रेजो के अधिकार में नहीं आया था। इसका महत्वपूर्ण कारण यह था कि आदिवासी इलाको में ब्रिटिश विजययात्रा आसान नहीं थी। डांग-पंचमहल के भील, सागबारा के वसावा आदिवासी, भरुच जिले के तलाबिया आदि आदिवासी जातियाँ अंग्रेज साम्राज्यवाद की विजययात्रा में बाधा बनी हुई थी। इनके कारण ही पंचमहाल और उससे लगे हुए प्रदेश 1861 में अंग्रेज के हाथ लगे थे। नया और परदेशी शासन की विविध वजहों से आदिवासियों ने जमकर विरोध किया था। आदिवासी इलाको को जीतने के बाद वहाँ स्थायी शासन बनाये रखने के लिये भील पलटन की रचना, भील एजेन्ट की नियुक्ति आदि उनकी आनुशंगिक योजनाएँ थी। ऐसे उपाय करने के बाद भी 1857 के संग्राम के समय अंग्रेज सबसे ज्यादा भयभीत आदिवासियों से रहे थे और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण आदिवासियों ने 1857 के संग्राम के दौरान दिया। सन् 1857 का वर्ष भारतीय इतिहास में अनेक मायनों में महत्वपूर्ण वर्ष था। संग्राम के दौरान अंग्रेजों को भारतीय रियासतों और भद्रवर्गों के समांतर आदिवासियों के हिंसक विद्रोह का सामना भी करना पड़ा, और वो अंग्रेज शासन के लिये ज्यादा खतरनाक भी थे। आदिवासियों ने अपनी स्वायत्तता, परंपरागत व्यवस्थातंत्र को बनाये रखने, जमीन-जंगल के हक के लिये ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हिंसक विद्रोह की शृंखला खड़ी की थी। सबसे पहले पंचमहल जिले में भील और नायका आदिवासियों के विद्रोह का ब्यौरा लेते हैं : "अक्टूबर 1857 में संखेडा के नायकड़ाओं ने रुपा नायक और केवल नायक के नेतृत्त्व में अंग्रेजो के सामने हथियार उठाए, नारुकोट के थाने में लूटमार करने के बाद उन्होंने जांबूघोडा पर हल्ला बोल दिया। उन्होंने चांपानेर और नारुकोट के बीच मजबूत नियंत्रण स्थापित कर दिया। नायकडा विद्रोह को खत्म करने के लिये उच्चतम अंग्रेज सेनापति मैदान में उतरे। आखिर इस विद्रोह का अंत रुपा नायक और केवल नायक की शरणागति से आया। इससे पहले नायकडाओं ने एक सूबेदार सहित सात सैनिकों को मार डाला और ग्यारह सैनिकों को घायल किया था।

पंचमहल के इन आदिवासिओं का विद्रोह करीब दो साल तक चला था।[2] इससे पहले 1826, 1838 में भी उन्होंने स्थानीय रियासतों और ब्रिटिश सत्ता का हिंसक स्वरुप में विरोध किया था।[3]

गुजरात के आदिवासियों में हिंसक विद्रोह का और नमूना सागबारा के वसावा आदिवासियों ने पेश किया था। आदिवासी जमींदार कुंवर वसावा, डुंगर वसावा और लश्करीया वसावा आदि ने 1857 के समय पैदा हुई राजकीय-वहीवटी अंधाधुधी का लाभ उठाकर ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह खड़ा किया था। उनका विद्रोह लम्बे समय तक टिक न सका फिर भी उनकी गतिविधिओं ने काम चलाउ रुप से ब्रिटिश तंत्र को हिला दिया था।[4] इसी क्रम में उत्तर गुजरात में विजापुर में मगन बनिया के नेतृत्त्व में हुए विद्रोह में भीलों ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। 1857 के संग्राम के बाद लादी गई हथियारबंधी का भी उन्होंने जमकर विरोध किया था।[5] 1857 के संग्राम के बाद हथियारबंधी लागू करने सबसे ज्यादा व्यथित होने वाली जनता गुजरात में आदिवासी थे। उपरोक्त उदाहरणों से कतई यह कहने का इरादा नहीं है कि आदिवासी बुनियादी रुप से हिंसात्मक विचारधारा में विश्वास करते थे, किन्तु पूंजीवादी ब्रिटन के आधिपत्य में आने के बाद आदिवासियों ने अपनी आन-बान-शान गँवाई थी। आदिवासी समाज जीवन खतरे में पड़ गया था। इस तरह उनका विद्रोह खतरों को खत्म करने की आरपार की लड़ाई थी।

1857 के संग्राम से अंग्रेज-शासन ने बहुत सारे सब्क ग्रहण किये थे। आदिवासियों को हिंसक विद्रोह की पद्धति से विचलित करने के लिये और साम, दाम, दंड, भेद की राजनीति अनुसार राजधर्मी बनाने के प्रयत्न

किये गये।[6] ब्रिटिश दंड नीति अनुसार ब्रिटिश शासन ने रानी डुक्कर, बाघ और भीलों को शिकार की चीज बनाई थी।[7] मात्र अंग्रेज ही नहीं स्थानीय देशी रियासतों ने भी उन्नीसवीं शताब्दी में आदिवासियों के साथ बरबरतापूर्व व्यवहार किया था।[8]

1857 के बाद गुजरात के आदिवासी क्षेत्र में घटी महान घटनाओं में जोरिया परमेश्वर आंदोलन का उल्लेख अनिवार्य रुप से करना चाहिए। सन् 1867 में शुरु हुये इस सामाजिक-धार्मिक आंदोलन की चरमसीमा में राजकीय और हिंसक स्वरुप में विकसित हुई थी। उस दौरान उस आंदोलन ने 15 दिनों तक पावागढ-हालोल के बीच ब्रिटिश शासन का अंत किया था। जिसका जिक्र खुद ब्रिटिश अधिकारीओं ने किया है। अपने राजकीय अस्तित्व के सामने खतरा रुपी इस आंदोलन को कुचलने के लिए ब्रिटिश शासन ने अनेक प्रयत्न किये। अंग्रेजों द्वारा की गई लश्करी कार्यवाही में 9 नायका आदिवासी शहीद हुए, जब कि कानूनी कार्यवाही में 5 नायक वीरों को फांसी (शूली) पर लटकाया गया। अनेक आंदोलनकारिओं को आजन्म की सजा और देश निकाल किये गये।[9] प्रस्तुत ऐतिहासिक घटना के बाद 1913 तक पंचमहल जिले में आदिवासिओं में कोई बड़ी ऐतिहासिक घटना घटी नहीं थी।

19 वीं शताब्दी में भरुच जिले के तलाविया आदिवासियों ने सुनियोजित ढंग से बड़ा विद्रोह किया था। उन्होंने ब्रिटिश शासन की सुधारवादी नीतियों के खिलाफ बंद किया था। लखा भगत नामक तलाविया आदिवासी के नेतृत्त्व में उन्होंने भरुच के कलेक्टर एलन को मिलने का प्रयास किया था। इसी दौरान ब्रिटिश और स्थानीय लश्कर के साथ उनकी भिड़ंत हुई। आदिवासियों ने पुलीस चौकी और मुंबई बैंक की भरुच शाखा को लूटने का प्रयास किया। उनका सामना करते हुए एक पुलिस कर्मी मारा गया, जब कि तीन पुलिस वाले घायल हुए। जवाबी कार्यवाही में पुलिस की गोलीबारी में पांच तलावीया आदिवासी शहीद हुए। 40 आदिवासियों पर कानूनी कार्यवाही कर उनके नेता लखा भगत और उनके साथी को फांसी पर लटकाया गया।[10] इस महान आदिवासी विद्रोह के बारे में भी गुजरात के इतिहासकारों में कोई हलचल नहीं है। बीसवीं शताब्दी गुजरात के आदिवासियों के लिये उम्मीदों की किरण लाने वाली सिद्ध हुई। बड़ौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ (1863-1936) द्वारा आदिवासी विकास हेतु किये गये अभूतपूर्व विकासकार्य, ईसाई मिशन और हिंदू सुधारक वर्ग का आदिवासी इलाको में विकास कार्य वगैरह महत्वपूर्ण आदिवासी प्रवृत्तियाँ थी। फिर भी उनकी हिंसक विद्रोह की परंपरा निर्मूल नहीं हुई थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही पंचमहल के आदिवासियों ने ब्रिटिश शासन और स्थानीय रियासतों को हिंसक प्रतिक्रिया दी थी। गोविंदगुरु (1874-1931) नामक बंजारा जाति के साधू की प्रवृत्तियाँ से आदिवासियों में भगत आंदोलन शुरु हुआ। उनसे समाज-धर्म सुधार प्रवृत्तियाँ स्थानीय रियासतें और ब्रिटिश शासन के लिये राजकीय खतरा पैदा हुआ। भगत आंदोलन में भील राज्य की स्थापना का मुद्दा भी समाविष्ट था। भगत आंदोलन को कुचलने के लिये हुई लश्करी कार्यवाही में 25 भील शहीद हुए थे।[11] हालांकि आदिवासी लोककथा में यह आंकडा सैंकड़ों की तादात में है। इससे पहले भीलों द्वारा चलायी गयी हिंसक गतिविधिओं में दुश्मन पक्ष में भारी जनहानि हुई थी। समग्रता से देखें तो अहिंसक रुप से चलने वाले भगत आंदोलन को अंतिम दौर में हिंसक रुप अखत्यार करना पड़ा था।

उत्तर गुजरात के आदिवासियों में हिंसक विद्रोह की योजना श्री मोतीलाल तेजावत (1888-1963) ने एक आंदोलन के माध्यम से लड़ी थी। आदिवासीओं के रोजमर्रा के प्रश्न, बेगार, कानून और व्यवस्था के नाम पर भीलों पर अत्याचार, अन्यायी टेक्स आदि 'एक आंदोलन की पृष्ठभूमि' थी। देशी विदेशी स्थापित हितों के खिलाफ शुरु हुआ यह आंदोलन अंतिम दौर में भीलराज की स्थापना तक आगे बढ़ चुका था। आंदोलन को

कुचलने के लिए की गई कारवाई में ढवाव के पास (22 भील शहीद हुए, जबकि 29 भील घायल हुए थे। (7 मार्च, 1922) स्थानीय लोकोक्ति के अनुसार ढवाव हत्याकांड में 1200 आदिवासी शहीद हुए थे[12] और आज यह घटना जलियांवाला बाग हत्याकांड के समकक्ष गिनी जाती है।

इस तरह गुजरात के आदिवासियों की हिंसात्मक विद्रोह की स्वराज्य यात्रा 1912 तक चलती रही। इसके माध्यम से आदिवासियों का प्रयत्न शोषण का अंत, सामाजिक न्याय और भीलराज की स्थापना करना था। हालांकि हिंसात्मक विद्रोह से आदिवासियों ने पाया कम और गँवाया ज्यादा था। कुछ आदिवासी जातियाँ तो हिंसक विद्रोह के बाद इतिहास के रंगमंच से अदृश्य हो गई थीं।[13]

**स्वतंत्रता संग्राम और गांधीवादी रचनात्मक प्रवृत्तियों में पृष्ठभूमि के रुप में आदिवासी स्वयंभू आंदोलन एवम् प्रवृत्तिओं का योगदान ः**

1915 में भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के प्रवेश के बाद उनका स्वप्न भारत में स्वराज्य के साथ सुराज्य लाना भी था। इस स्वप्न को सिद्ध करने हेतु असहयोग आंदोलन के दौरान रचनात्मक प्रवृत्तियों का कार्यक्रम पेश किया था। जिसके मुताबीक शहर से लेकर गाँव, भद्र वर्ग से लेकर निम्नवर्ग के लोग स्वतंत्रता आंदोलन में जुड़ें, ऐसी उनकी मनोकामना थी। वैविध्यपूर्ण, नवीन प्रयोगों से यह प्रक्रिया दलित, महिलाएँ, मजदूर जैसे वंचित वर्गों में सफलतापूर्वक चलीं, किन्तु आदिवासियों को स्वतंत्रता संग्राम में साथ में लेना उतना आसान काम नहीं था। एक उदाहरण द्वारा उस बात को स्पष्ट करते है ः सन् 1921 में चौरी चौरा हत्याकांड की वजह से बारडोली का स्वराज्य यज्ञ बंद रहा। तत्पश्चात बारडोली की एक सभा में बारडोली-वालोड की आधी आबादी आदिवासी (कालीपरज) है और उनकी गिनती आबादी में नहीं होती है। ऐसी बात जानकर उनको गहरा आघात लगा। 'कालीपरज' (यह शब्द उस समय दक्षिण गुजरात के आदिवासी गुजरात के आदिवासियों के लिये प्रचलित था।) शब्द भी उनको पसंद नहीं आया, और आंदोलन स्थगित हुआ, इस में ईश्वर का कोई शुभ संकेत होगा। ऐसा कह के प्रार्थनासभा में अपनी व्यथा दशाई। उन्होंने कहा कि दक्षिण अफ्रीका में गोरे लोग हमको काला कहते है और यहाँ हम अपने भाईओं को 'कालीप्रजा' (काले लोग) से पहचानते हैं। यह कैसा? इस रोग को निकालना ही चाहिए। यह लोग समान नहीं होंगे तो सरकार उनका उपयोग हमारे सामने ही करेगी और हमारी लड़ाई सफल नहीं होगी। जिस शरीर का आधा अंग जुटा पड़ गया हो, ऐसे शरीर के साथ हम लड़ाई शुरु करेंगे तो कैसे जीत सकते हैं? इस लिये लोक जीवन में जमा हुए इस खून को फिर से धड़कना चाहिए।[14]

गांधीजी के उपरोक्त बयान में, सरकार अज्ञानी और निरक्षर आदिवासियों का गैर लाभ न उठाए और स्वतंत्रता आंदोलन वास्तविक अर्थ में लोक आंदोलन बने ऐसा सुर व्यक्त हुआ है।

गांधीयुग के प्रारंभ तक सयाजीराव गायकवाड और ईसाई मिशन की प्रवृत्तियों के अलावा आदिवासी इलाकों में खास आशास्पद प्रवृत्तियाँ नहीं हुई थी। इस समय तक गुजरात में 'रानी विभाग' और 'रास्ती विभाग' (Plain people and Forest people) जैसे विभाग भी प्रचलित थे। भद्र लोग और आदिवासी के बीच सामाजिक विनिमय का व्यापक अभाव था। इसी वजह से आदिवासी समाज गांधीयुग के प्रारंभ तक समाज की मुख्य धारा से कटा हुआ था। अब हम, ऐसा मुख्य धारा से कटा हुआ और आंत्यतिक मानसिकता वाला समाज गांधी प्रेरित स्वतंत्रता आंदोलन में कैसे दाखिल हुआ? उसके पीछे गांधीवादियों ने कौन सी तरकीब अजमाई थी? और सब से महत्वपूर्ण बात गांधीपूर्व के स्वयंभू आदिवासी आंदोलनो ने आदिवासी इलाकों में गांधीवादी राष्ट्रीय आंदोलनों में कितनी सहायता की? इसके बारे में विस्तार से देखते हैं?

गांधी के पहले आदिवासी सुधार के क्षेत्र में शून्यावकाश नहीं था। करजण (बड़ौदा), जणोर और डभाला (भरुच), झघडीया (राजपीपला), राजकोट आदि स्थानों पर 1907 से लेकर 1911 तक भीलों के सम्मेलन हुए थे। इसमें शराब निषेध और समाज सुधार की चर्चा होने के उपरांत उसके अमलीकरण के बारे में गंभीरता से सोचा गया था।[15] हालांकि ऐसे प्रयत्न शुरुआत मात्र थी। स्वयंभू सुधारों के क्षेत्र में घाटा (व्यारा, दक्षिण गुजरात) की भगत परंपरा के माध्यम से स्तुत्य प्रयत्न हुआ था। गायकवाड़ी इलाके के व्यारा तहसील के घाटा गाँव से शुरु हुई भगत प्रवृत्तियाँ 1905 में 'एकता' (Unity) के नाम से संस्थीकृत हुई थी। उसके माध्यम से स्थानीय आदिवासियों में से शिक्षित और संस्कारी वर्ग तैयार हुआ था। जिन्होंने शिक्षण प्राप्ति से लेकर समाजसुधार तक की प्रवृत्तियों में आदिवासी समाज को नेतृत्व प्रदान किया था।[16] इन लोगों ने रियासती इलाके के होते हुए भी ब्रिटिश प्रांत में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन को सहयोग किया था। उदाहरण के तौर पर किशनसिंह गामीत नामक आदिवासी नेता रचनात्मक कार्यकर और स्वतंत्रता सैनिक के रुप में उभर आये थे।[17] घाटा की भगत प्रवृत्तियों में महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसके अंतर्गत तैयार हुए आदिवासी शिक्षितों ने सयाजीराव गायकवाड़ और देवी आंदोलन (1922-25) की प्रवृत्तियों में नींव के पत्थर समान भूमिका अदा की थी।[18] इसी तरह गायकवाड़ी शासन ने आदिवासी विकास हेतु किये गये कार्यों का इतिहास सुप्रसिद्ध है।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में दक्षिण गुजरात में देवी आंदोलन नामक आंदोलन ने आकार लिया था। इस आंदोलन का प्रधान कारण शराब ताड़ी का विरोध, मांसाहार निषेध, शोषक वर्ग का बहिष्कार, व्यक्तिगत स्वच्छता जैसे सामाजिक-सुधार लाना था। इस आंदोलन में दैवी स्वरुप महिला अपने मुँह से आदिवासियों को सार्वजनिक ढंग से समाज-धर्म सुधार का उपदेश देती थी। देवी के प्रवृत्तियों से हुए मूलभूत परिवर्तनों से आदिवासी समाज, जीवन के महत्वपूर्ण मोड़ पर आकर खड़ा हुआ था।[19] संस्कृतीकरण की इन प्रवृत्तियों से गांधीवादी विचारों के लिये आशा की किरण जगी थी। क्योंकि 1921-22 से दक्षिण गुजरात के आदिवासी इलाकों में खादी-कातना-बुनना जैसी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ के लिये घूमते रहे गांधीवादियों के लिये उम्मीद की किरणें कम थी। गांधीवादी कार्यकर्ता सर्वे और क्षेत्रकार्य (Field-work) की पद्धति में आस्था रखते थे। वो अच्छे मनोचिकित्सक भी थे। इसी वजह से समांतर चला आ रहा देवी आंदोलन का आदिवासी समाज जीवन पर गहरा प्रभाव उनकी नजर से बाहर नहीं था और देवी की प्रवृत्तियों के आश्रय में राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ कैसे विकसित की जाये? स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासियों की भागीदारी कैसे पाई जाय? उस समस्या का उनको मानो उत्तर मिल गया। एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत बात को स्पष्ट करते हैं :-

''गाँवो में जागृति लाने के लिये कुंवरजी भाई (सूरत जिले के अग्रगण्य स्वतंत्रता सैनिक कुंवरजी देसाई) का फलद्रुप दिमाग (Fertile brain) काफी प्रयोग कर रहा था। उनके साथ सूरत से आई सूरज बेन नामक, ब्राह्मण बहन, जो शिक्षिका थी उनको कुंवरजी भाई 'कालीदेवी' बनाके बैलगाड़ी में घुमाते थे। कालीदेवी बनी सूरज बहन भी अपना रोल बराबर अदा करती थी। काले कपड़े, लाल रंग से रंगा मुँह, गले में मालाएं, सुत्रोच्चार के साथ इस काली देवी को गांव गांव घुमाया जाता था। कुंवरजी भाई गांव वालों को समझाते थे कि यह धर्मयुद्ध है, इसमें जुड़ने का यह देवी का आदेश है। जो लोग इसमें नहीं जुड़ेंगे उनको इस देवी का कोप सहना पड़ेगा।[20] उपरोक्त ब्यौरे से पता चलता है कि आदिवासियों कि परंपरित धर्मभीरु मानसिकता और ईश्वर के बारे में भयमूलक मान्यता को देवी आंदोलन के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन में आदिवासियों की भागीदारी के रुप में पाने के लिये गांधीवादिओं ने कोई कसर छोड़ी नहीं थी। स्वराज्य यात्रा में आदिवासियों की भागीदारी पाने की प्रक्रिया का ब्यौरा देखने के बाद उसका परिणाम क्या हुआ? उसका चित्र गांधीवादी लेखक श्री जुगतराम दवे के शब्द में देखते हैं : ''सारे देश में गर्मी चढ़ी हुई थी, वह धीरे धीरे नीचे उतर रही थी। (वो

असहयोग आंदोलन के उत्तरार्ध की बात कर रहे हैं।) किन्तु सूरत जिले में आदिवासी प्रदेश में गर्मी कम होने का कोई आसार दिखता नहीं था। गांधीजी की महान लड़त उस प्रदेश में अलग स्वरुप में फैली थी। कहिये कि रानीपरज लोगों ने उसको अपनी रानी (आदिवासी) आवृत्ति बना दी थी। वहाँ उसने देवी प्रवृत्तियाँ (देवीना धुणा) (Fire pits) का स्वरुप पाया था। असहयोग आंदोलन के कार्यकर्ता आदिवासी गाँवो में घूमते रहते थे, सभाएँ आयोजित करते थे, उनकी भजन मंडलियाँ और 'देवी का धूणा' का लाभ उठकर उन्होंने गांधीजी के मद्यपान निषेध और चरखे का संदेश आम लोगों तक पहुँचाया था। ऐसा करने में कुंवरजी-कल्याणजी बंधुओं का बहुत बड़ा योगदान था। गांधीजी की गैरमोजुदगी में उन्होंने कस्तुरबा को आदिवासी गाँवों में घुमाया। इस तरह देवी के भक्तों को एक जलदा देवी मिल गई।''[21] और एक उदाहरण 'स्वराज्य ना संभारणा' (1972) ग्रंथ से देखते हैं : ''शराब बंदी के कार्यक्रम को एक विचित्र संयोग का सहयोग मिल रहा था। आदिवासी लोग पिछड़े हुए और देव-देवी, भूत-प्रेत में आस्था रखनेवाले थे। कुछ धार्मिक लोगों को शरीर में देवी आती थी। ऐसे लोगों ने अपने शरीर में आती देवी को अपनी बात मनवा कर, अपना प्रभाव दर्शाया और पिछड़े लोगों को शराब-ताड़ी छोड़ने की आज्ञा दी। उसका चमत्कारिक तरीके से अमल हुआ। इस तरह विचित्र दिशा से शराब बंदी के कार्यक्रम को सहयोग मिला, ऐसा मान सकते हैं।[22] इस क्रम में कुए के पानी में गांधी और उनका चरखा दिखता है, ऐसी बात भी स्थानीय कार्यकर्ताओं ने उपजाई थी।[23]

यह उदाहरण बताते हैं कि आदिवासियों कि धर्म भीरु और ईश्वर के बारे में भय मूलक मान्यता ने गांधीवादी को नये-नये प्रयोग करने के लिये ललचाया था। इसके प्रयोग के तौर पर गांधी को आदिवासियों के परंपरीत शीमलीया देव के विकल्प के रुप में पेश कर उनकी आज्ञा का अनुसरण करने की बात भी कही गई थी।[24] संक्षेप में, गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासियों की भागीदारी पाने के मुद्दे पर कोई कसर छोड़ी नहीं थी। हालांकि महात्मा गांधी ने स्थानीय कार्यकर्ताओं को ऐसा करने से मना किया था। आदिवासियों में व्याप्त भजन प्रवृत्तियाँ, उनके धालमक गीतों में खादी-कांतना-बूनना, शराबबंदी आदि बातों का विनियोग वगैराह गांधीवादियों की मानसिक कवायत में से उभर आये उपाय थे। उसके प्रभाव के बारे में श्री जुगतराम दवे ने लिखा है कि भजन और गीत के माध्यम से पवित्र जीवन का, शराब-ताड़ी के प्रभाव से छूटने का, चरखा और गांधी विचारों के उपदेश से लोगों का हृदय तरबोल होते थे।[25] उपरोक्त उपाय-पद्धतियाँ दक्षिण गुजरात के स्थानीय संजोग और समय के अनुरुप अजमाई हुई पद्धतियाँ थीं। अब आदिवासी आबादी बाहुल्य वाले पंचमहल जिले में गांधीवादियों द्वारा किये प्रयोग के बारे में देखते हैं।

पंचमहल जिले में गांधीयुग से पहले गोविंदगुरु के भगत आंदोलन की वजह से भीलों का विशाल समूह समाज-सुधार के पंथ पर आकर खड़ा हुआ था। गांधी की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ में जिन मुद्‌दों का समावेश होने वाला था, उसमें से कुछ मुद्‌दे की शुरुआत गोविंदगुरु कर चुके थे। जिनका जिक्र गांधीवादी पत्रिकाओं में भी किया गया था। 'नवजीवन' (पाक्षिक) के मुताबिक - 'शिक्षित वर्ग अपनी इच्छा होने पर भी जो काम न कर सका वह भीलों को सुधारने का काम एक निरक्षर इन्सान ने बखूबी किया, वो थे श्री गोविंदगुरु, वो शिक्षाप्राप्त पंडित नहीं है किन्तु एक गरीब बंजारा हैं। भजन-कीर्तन और सादा नीति के बोध से उन्होंने गाँव के लोगों को नया जीवन प्रदान किया है, उनकी नजर भील कोम पर ठहरी। भील जैसी मेहनतू और प्रामाणिक जाति को शराब की शरणागति स्वीकारते हुए देख, चोरी का धंधा अपनाते थे। शिक्षित वर्ग को भीलों के जीवन में उतरना आसान नहीं था। वही बात गोविंदगुरु के लिए आसान थी। रोजबरोज स्नान का महत्व नहीं समझने वाले भील उनके उपदेश से स्नानकर्म और भगवान के भजन गाने लगे, शराब पी के तुफान मचाने वाले, खेती में बेध्यान अनेक भीलों ने गुरु के पास शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा ली ....., कुछ चोरी करने वालों को गोविंदगुरु ने चोरी न

करने की सौगंद दी।[26] संक्षेप में, प्रस्तुत ब्यौरा गांधी के पूर्व पंचमहल के आदिवासियों में सांस्कृतिक परिवर्तन का उत्तम विचार पेश करता है। गांधी से पहले मद्यपान निषेध पर गोविंदगुरु का देश और अमलीकरण कितना असरदार था, उसका ख्याल श्री ठकरबापा का निम्नलिखित बयान देता है : ''शराब की आदत के बारे में देखे तो महात्मा गांधी का आत्मशुद्धि आंदोलन भील प्रदेश में असर कर रहा है। एक और बात भी ध्यान रखनेवाली है कि दस-बारह साल पहले प्रचलित हुए गुरु गोविंद के उपदेश से सैंकड़ो बल्कि हजारों लोगों ने शराब का बिलकुल त्याग किया है।"[27] भीलों में सांस्कृतिकरण के साथ भगत आंदोलन की वजह से देशी रियासतों ने बेगार, जमीन-महसूल निश्चित करते समय राहत, जंगल धारा सरल करने की जरुरत महसूस की थी।[28] ऊपर दर्शाये गये उदाहरण स्पष्ट रुप से दिखाते हैं कि जिन मुद्दों को ले कर गांधीजी और उनका अनुयायी वर्ग आदिवासियों में कार्य करने वाले थे ऐसे बेगार, शराबबंदी, समाज सुधार, आर्थिक स्वनिर्भरता, जैसे मुद्दों को हाथ में लेकर गोविंदगुरु ने जाने-अनजाने में सत्याग्रह का वातावरण तैयार किया था। गोविंदगुरु आंदोलन के अंतिम चरण में पैदा हुई हिंसा और सांप्रदायिक अत्याधिकता को नजर अंदाज करे तो गोविंदगुरु पंचमहल जिले में आदिवासी प्रवृत्तियों में महात्मा गांधी के पूर्वगामी थे। (Gandhi before Gandhi) राष्ट्रीय आंदोलन की पूर्वसंध्या पर आदिवासी इलाको में गांधीवादी को गोविदगुरु जैसे प्रभावशाली नेता की तलाश थी। सर्वेक्षण और क्षेत्रकार्य कर रहे गांधीवादी कार्यकर्ताओं को गोविंदगुरु और उनके भील संगठन में गांधीवाद के प्रसार की उज्जवल संभावना और भविष्य दिखा। उसका उचित लाभ उठाने हेतु Public Meeting में गोविंदगुरु को उपस्थित रखने का प्रयत्न किया गया। गोविंदगुरु की लोकप्रियता गांधीवादिओं को कितनी फायदेमंद रही उसका ब्यौरा 'युगधर्म' सामयिक के आधार पर देखते हैं : ''भीलों को जागृत करने हेतु दोहद में तहसील परिषद का आयोजन किया गया। (1921) उसकी अगली रात गुरुगोविंद भी दूर रियासत से आ पहुँचे। उनके दर्शन के लिये हजारों लोग आने लगे परंतु सरकार ने इस घटनाक्रम को समाधान की शर्त की उपेक्षा मानकर गुरु को आधी रात को गिरफ्तार किया। दोहद की परिषद् में हजारों की मेदनी जमा हुई, सुबह से भील लोग आते ही रहे, उनको गुरु का प्रवचन सुनाने के लिये चार-पांच मंच तैयार किये गये थे। हालांकि एकबार आकस्मिक भारी आवाज आने से, पुलिस के डर से भीलों में अफरा तफरी मची थी, फिर भी भील जागृति का ऐसा भयानंक दृश्य पहले और बाद में देखने में आया नहीं था। इसी मीटिंग से पहले गोविंदगुरु भील लोगों को अपने भाषण से उत्तेजित करेंगे, ऐसे डर से उनको गिरफ्तार किया गया था। अब उनकी गैर मौजूदगी वाली एक सभा की स्थिति देखते हैं : ''गत अप्रैल माह में 17-18 दिनांक (1923) को भील सेवा मंडल (दाहोद) द्वारा भील परिषद बुलाई गई थी। उस में गुरु की पधारने की उम्मीद थी, पर वो कोई संजोग से आ न सके, शायद इसी वजह से स्वयंसेवक और श्री टक्कर (ठक्करबापा) के अनेक प्रयत्न के बावजूद भील बहुत कम मात्र में उपस्थित रहे।[30] ऊपर दिये गये दोनों वर्णन गांधीवादी कार्यकर्ता द्वारा लिखे गये और गांधीवादी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। जो दिखाते हैं कि स्थानीय स्तर पर समांतर चल रहा भगत आंदोलन ने पंचमहल में गांधीवादी प्रवृत्तियों के लिये उपजाऊ भूमि (Fertile land) तैयार करने का कार्य किया था। बिना गोविंदगुरु और भगत आंदोलन के गांधीवाद का प्रसार मुश्किल था।" श्री गोविंदगुरु का व्यक्तित्व और भीलों पर उनके प्रभाव ने राष्ट्रीय आंदोलन को पंचमहल में फैलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इसी के साथ भगत आंदोलन से संस्कारी हुए भगत आदिवासियों ने गांधी विचार और राष्ट्रीय आंदोलन को भील प्रदेश में फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। खुद ठक्करबापा ने लिखा है कि भगत लोग ज्यादा समझदार और होशियार होते हैं, वो नयी राष्ट्रीय गतिविधियों का तुरन्त स्वागत करते हैं और स्वयंसेवको के साथ घुलमिल कर उनके काम में खूब मदद करते हैं। पाठशाला एवंम् आश्रमशालाओं में अपने लड़के भेजने में, घर में चरखा दाखिल करने और सहकारी मंडलियाँ या

चिकित्सालय का लाभ लेने की शुरुआत उन्हीं से होती है। जिस गाँव में अच्छी स्थिति का भगत होता है वहाँ नेता भी वही होता है, भील प्रदेश के गढ़ अंधकार मे भगत भील ही तेज के बिखरे हुए किरण के समान है।"[31] मात्र रचनात्मक कार्यों का स्वागत करने तक ही नहीं, किन्तु गांधीवादी रचनात्मक संस्थाओं की ढांचागत सुविधाएं बढ़ाने मे भगत आदिवासी आगे आये थे। भील सेवा मंडल की पाठशालायें भगत भीलों द्वारा मिला नगद और भूमिदान का आदरपूर्वक जिक्र ठक्करबापा ने भी किया था। इन सब संयुक्त प्रयत्नों से पाठशालाओं की संख्या, गुणवत्ता में बुद्धि, खादी चरखे का प्रचार, कन्याशिक्षा और समाज सुधार जैसी बातों पर लक्ष्यांक सिद्ध करने की दिशा में भूमिका बनी थी।[32] उत्तर गुजरात में गांधीयुग के प्रारंभ मे मोतीलाल तेजावत (1888-1963) का एक आंदोलन कार्यरत था। भीलों के अथक शोषण के खिलाफ, सामाजिक न्याय के वास्ते, अन्यायी लागान दूर करने, बेगार की नाबंदी के लिये, मद्यपान निषेध के लिये काम किया था। उनके व्यक्तित्व और कर्तव्य से 'एकी' के स्वरुप में भीलों का व्यवस्थित संगठन तैयार हुआ था।[33] मोतीलाल की प्रवृत्तियों में भी समय-संजोग अनुसार हिंसा का तत्व दाखिल हुआ था। जिस से गांधीजी भी बड़े दुःखी हुए थे। उन्होंने अपने अनुयायी मणिलाल कोठारी को भेज कर मोतीलाल के साथ संवाद रचने का और उनको हिंसात्मक मार्ग से अहिंसात्मक मार्ग पर मुड़ने के लिये विनती की थी। जिसका जवाब मोतीलाल ने इस तरह दिया था : मैं जिस जगह काम रहा हूँ, सत्याग्रह का काम करता हूँ, मैं कोई बेकार काम नहीं करता हूँ। असल बात यह है कि जिस तरह आपके सत्य के पीछे सारा हिन्दुस्तान चलता है उसी तरह मेरे पीछे भील गरासिया लोग चल रहे हैं...., जब मैंने यह सत्याग्रह शुरु किया तब इन लोगों ने बड़ी श्रद्धा से मेरा साथ दिया। इस बात से राजकार लोग नाराज हुए भीलों को डराकर, मार पीटकर और लालच देकर दबाना चाहते हैं, पर वे बड़े अटल है। अपनी भलाई को समझते हैं, अब मेरी बात न तो राज सुनता है और न अंग्रेज आप ही मेरी सहायता कीजिये।[34]

मोतीलाल के विचार जानकर गांधीजी ने उनको गुप्त प्रवृत्तियाँ छोड़कर सार्वजनिक रुप से भील सुधार की प्रवृत्तियाँ करने की हिदायत दी। बाद में 1929 के वर्ष में मोतीलाल ने गांधी के प्रभाव में हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ छोड़कर ब्रिटिश राज्य की शरणागति स्वीकार कर ली, उसके अलावा प्रजामंडल की गतिविधियाँ और सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में सक्रियरूप से योगदान दिया। उनके पीछे सैकड़ों की तादात में भीलों ने प्रजामंडल प्रवृत्तियाँ और भारत छोड़ो आंदोलन में हिस्सा लिया।[35] इस तरह एकी आंदोलन और गांधीवादी प्रवृत्तियाँ लम्बे अरसे तक परस्पर सहायक रही। संक्षेप में, उत्तर गुजरात में मोतीलाल का एकी आंदोलन राष्ट्रवादी आंदोलन के लिये जनाधार बना था। राष्ट्रीय आंदोलन और गांधीवादी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ में ऊपर उल्लेखित घटनाक्रम के उपरांत परंपरित आदिवासी नेतृत्व भी आशीर्वादरूप साबित हुआ था। गांधीवादी कार्यकर्ता 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में आदिवासी इलाकों में पहुँच गये थे। किन्तु प्रारंभ में सामाजिक विनिमय का अभाव, कुशल व्यवस्थातंत्र की कमी वगैरह की वजह से उनकी प्रवृत्तियो का दायरा सीमित रहा था। उसका उपाय उनको आदिवासी परंपरित नेतृत्व का सहयोग लेने में दिखा था। आदिवासी जाति संस्था काफी असरकारक और मजबूत थी। जाति नेतृत्व का प्राणान्त तक पालन करना आदिवासी समाज की मानसिकता रही थी। उसको परख कर गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने अपनी प्रवृत्तियाँ के लिये आदिवासी पटेल, गामेती, नायक को ढूंढ निकाले और उनका आश्रय लिया । उदाहरण के तौर पर पंचमहल में रुपाजी परमार, लालचंदभाई नीनामा, जयसिंहभाई सोलंकी। दक्षिण गुजरात में कोयलाभाई पटेल, जीवनसिंह बलवी, किशनसिंह गामीत, जीवनसिंह चौधरी आदि को राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ और रचनात्मक कार्यो की व्यवहारिक बाते समझाने पर बाकी लोगों तक यह बात पहुँचाना आसान हो गया। शुरु में उन्होंने सत्याग्रह और आंदोलन की जगह पर खादी-कातना-बुनना, मद्यपान निषेध, समाजसुधार प्रवृत्तियाँ जैसी अच्छी और सामाजिक उत्कर्ष की बातें उनके सामने रखी। इस हेतु आदिवासी

पंच-पंचायत की रचना की गई थी। आदिवासी परंपरित सामाजिक ढाँचे में रचनात्मक कार्यों को रखकर उनको गांधीवादी प्रवृत्तियाँ की ओर आकर्षित किया गया। गुजरात में 1928 के बारडोली सत्याग्रह तक आदिवासी इलाका में गांधीवादियों ने अपना कार्यक्षेत्र रचनात्मक कार्यों तक सीमित रखा था।[36] रचनात्मक कार्यो में सहयोग मिलने पर गांधीवादियों ने आदिवासियों को सत्याग्रह आंदोलन और अहिंसक लड़ाई में शामिल किया था। उसका प्रभाव आजादी आने तक सैकड़ों आदिवासी स्वतंत्रता सैनिकों के रुप में फैल गया था।

स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासी प्रतिसाद : क्या पाया? क्या खोया ? उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन की स्थापना से ही आदिवासियों की विद्रोही प्रवृत्तियाँ, आंदोलन हिंसक स्वरुप से शुरु हो गई थी। यह उपक्रम बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक चलता रहा। समय के बदलाव के साथ, बदलती मानसिकता के साथ आदिवासी गांधीवादी आंदोलनो में जुड़े। इस 90 साल के आदिवासियों की स्वराज्य यात्रा के परिणामों के दृष्टिकोण से वैविध्य पूर्ण थी। जिसका ब्यौरा निम्नलिखित है। (1) उन्नीसवी शताब्दी में आदिवासी देशी-विदेशी स्थापित हितों के विरुद्ध अपनी स्वायत्तता, अस्तित्व की लड़ाई लड़ते थे। व्यापक संदर्भ में देखे तो वो उनकी स्वतंत्रता के लिये जंग थी। किन्तु उनकी यह हिंसक जंग इतिहास में निष्फलता के प्रकरण से ज्यादा महत्व की नहीं है। इसके विरुद्ध बीसवीं शताब्दी में गांधीवादी प्रवृत्तियों के साथ उनका जुड़ना आदिवासियों की राष्ट्रीय आंदोलन में भागीदारी का महान प्रकरण बना। गुजरात प्रदेश में इस प्रक्रिया के दौरान गांधीप्रभाव में सैंकड़ो आदिवासी स्वतंत्रता सैनिक, रचनात्मक कार्यकर के रुप में उभर आये। दक्षिण गुजरात के वालोड तहसील के वेडछी गाँव का उदाहरण बताये तो यहाँ 40 आदिवासी स्वतंत्रता सैनिक पैदा हुए थे।[37] (2) गांधीयुग में स्वराज्य के साथ सुराज्य को हासिल करने के लिये आदिवासी उत्कर्ष की संस्थाएँ भी स्थापित की गई थीं। दाहोद में भील सेवा मंडल (1922) और उसके अन्य आश्रम, वेडछी स्वराज्य आश्रम आदि संस्थाओं का उद्भव और विकास स्पष्टरूप से गांधीवादी कार्यकर्ताओं के प्रयत्न की फलश्रुति थी। आजादी बाद भी इन संस्थाओं ने गांधी विचार पर आदिवासी जगत को गतिमान रखा था। (3) गांधीवादी अहिंसक प्रवृत्तियों के साथ आदिवासियों का जुड़ना उनके लिये नेतृत्त्व की प्रयोगशाला के समान साबित हुआ था। गांधी से पूर्व हिंसक प्रवृत्तियाँ और आत्यतिक रास्ते जीवन की समस्या का हल ढूंढ़ने वाले आदिवासियों की मानसिकता में गांधी प्रभाव से मूलभूत परिवर्तन आया था। गांधी प्रभावित उनका नया नेतृत्त्व अहिंसक प्रवृत्तियाँ और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में श्रद्धा रखनेवाला था। आजादी बाद भी उन्होंने आदिवासी समाज को कुशल नेतृत्त्व प्रदान किया था। प्रस्तुत शोधकार्य के दौरान किया गया क्षेत्रकार्य से प्राप्त आकड़ों के अनुसार सूरत और पंचमहाल जिलों में 80 प्रतिशत नेता गांधीवादी संस्थाओं की उपज थे। (4) स्वराज्य युग में आदिवासियों का गांधीप्रभाव में नये सिरे से परिवर्तन हुआ था। इससे पहले हिंसात्मक और अंतिमवादी मानस वाला आदिवासी समाज गांधी प्रभाव में समाधानकारी मानस अपनाने लगा था। गांधी विचार ने उनमें वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्गमेल की थ्योरी के बीज बोए थे। गांधी की समन्वयवादी, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का आदिवासियों पर उतना गहरा प्रभाव पड़ा था, कि स्वराज युग में किसान सभा, साम्यवादी आंदोलन अनेक प्रयत्नों के बावजूद आदिवासी इलाकों में बिना असरकारक रहे थे।[38] (5) गांधीवादी रचनात्मक प्रवृत्तियों का आदिवासियों के लिये विशेष महत्व था। इसमें आदिवासी समाज में प्रचलित कुरीतियों की नाबूदी, स्वनिर्भरता के साथ स्वस्थ समाज निर्माण का संदर्भ भी था। सत्याग्रह युग में शराब की बंदी, भारी गहने पहनने का रीवाज, शारीरिक स्वच्छता का अभाव आदि कुरीतियों के खिलाफ आशास्पद वातावरण पैदा हुआ था।[39] गांधी प्रभाव में आदिवासियों का चरखा, खादी-कातना-बुनना जैसी स्वनिर्भरता कि प्रवृत्तियों में आस्था बढ़ी थी। (6) ऊपर दिये गये मुद्दे आदिवासियों की हिंसक से अहिंसक स्वराज्य यात्रा के सकारात्मक पहलू दर्शाते हैं, उसकी विरुद्ध समग्र प्रक्रिया के दौरान

आदिवासियों ने गँवाई हुई बातों का भी जीक्र करना ही चाहिए। आगे जिक्र हुआ है उसके मुताबिक आदिवासियों की स्वयंभू प्रवृत्तियाँ, आंदोलनों ने गांधीवाद के विकास में बहुमूल्य योगदान किया था। किन्तु जिस आदिवासी स्वयंभू प्रवृत्तियों पर सवार होकर गांधीवाद आदिवासी विस्तारों में आगे बढ़ा था वही प्रवृत्तियाँ गांधीवादियों को बाद में पुरानी और पिछड़ी प्रवृत्तियाँ लगी थीं। उदाहरण के तौर पर देवी के विधि विधान और उसके 'घृणा' (Firepits) दक्षिण गुजरात में रानीपरज परिषदों में गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने सरदार पटेल की उपस्थिति में देवी के 'धुणा' का अंत लाना तथा ऐसे विधिविधान न करने का प्रस्ताव रखा था।[40] ऐसी प्रवृत्तियों की वजह से ही देवी आंदोलन जैसा असरदार और प्रभावी आंदोलन काल के गर्भ में विलीन हो गया और गांधीवाद ने देवी आंदोलन पर कब प्रभुत्व पा लिया, उसका किसी को पता तक न चला। इसी तरह गांदीवादियों ने आदिवासियों की कुछ मूलभूत समस्याओं को सत्याग्रह आंदोलन के दौरान नजरअंदाज किया था।[41] ऐसी ही स्थिति हालांकी (serfdem) प्रथा को खत्म करने में गांधीवादियों ने खास उत्साह नहीं दिखाया था।

गांधी पूर्व की आदिवासियों की स्वराज्य यात्र और गांधी युग के दौरान की प्रवृत्तियों की तुलना करे तो इस दौरान आदिवासियों की मानसिकता में काफी तपदीली दिखती है। एक दृष्टिकोण से गांधीवाद के प्रभाव में आदिवासियों का अन्याय के खिलाफ लड़ने का जज्बा खत्म हो रहा था। जो आजादी के बाद भी जारी रहा था। आज गुजरात में नक्सलवाद का प्रभाव गुजरात के आदिवासी क्षेत्रों में आया है, उसका प्रमुख कारण स्वातंत्र्य आंदोलन के दौरान तैयार हुआ आदिवासी नेतृत्त्व है।

**उपसंहार**

प्रस्तुत शोधपत्र में गुजरात के आदिवासियों के 1857 से 1947 तक चला भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का आदिवासी प्रतिसाद का हमने ब्यौरा लिया। हिंसक विद्रोह में से अहिंसक आंदोलन मे तब्दील हुई उनकी यह यात्रा न सिर्फ आदिवासी समाज के लिये परंतु राष्ट्र नवनिर्माण और गांधीजी के सुराज्य के स्वप्न के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण थी। गांधीवादी अहिंसात्मक विचार और उसका व्यवहारिक उपयोग उन्होंने आजादी बाद भी टिकाये रखे थे। सैंकड़ो की तादात में रचनात्मक कार्यकर गांधीविचार को बनाये रखने में स्वतंत्रता के बाद भी सक्रिय रहे थे। फिर भी आदिवासियों की दूसरी पीढ़ी भी आशा की किरण के समान है। आज गांधीवाद से संस्कारित आदिवासी नेतृत्व अस्त होने की तैयारी में है।

*इतिहास विभाग,*
*गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद, गुजरात*

**सन्दर्भ -**

1. *P- G- Shah Tribal Life in Gujarat, Bombay, 1964, P-14*
2. *Campbell James, Gazetteer of the Bombay Presidency, Vol&III (Kaira and Panchmahal) Bombay, 1879, pp- 254-258*
3. *परमार लाधाभाई हरजी, रेवाकांठ डिरेक्टरी, वोल्यूम-2, (गुजराती), राजकोट, 1922, पृ. 7*
4. *पंडया कालीदास देवशंकर, गुजरात-राजस्थान (गुजराती), अहमदाबाद, 1848, पृ. 164-165*
5. *उपर्युक्त, पृ. 36*
6. *द्विवेदी मणिलाल, पुरातन दक्षिण गुजरात (गुजराती) सूरत, 1890, पृ. 20-21*
7. *उपर्युक्त, पृ. 22*
8. *जाम्बुघोडा और नारुकोट तहसील (पंचमहल जिला) किया क्षेत्रकार्य से प्राप्त माहिती*

9. *Maharastra State Archives, Political Department (Spl.) File No- 621 of 1868 (Revakantha Prisoners convicted of having being concerns in the Late Naikadas Disturbance, pp- 33-34)*
10. *Edalji Dosabhai, History of Gujarat, Ahmedabad 1896, p. 298 F*
11. *अरुण वाघेला, इतिहास दर्पण (लेख संग्रह - गुजराती) अहमदाबाद, 2006 प्रकरण-4, 'मानगढ़ हत्याकांड और' N.A.I., F & P Progs. August 1914, Nos. 18-22, Internal-A.*
12. *कांकरिया प्रेमसिंह, भील क्रांति के प्रणेता : मोतीलाल तेजावत, उदयपुर 1985 पृ. 48-49 और National Archives of India, Foreign and Political Dept., File No. 428-P (Secret).*
13. *According to foot-note No. 9 और क्षेत्रकार्य का निष्कर्ष*
14. *ईश्वरलाल देसाई, रानीपरजमां जागृति (गुजराती) सूरत, 1964, पृ. 256 इस बारे में गांधीजी की और प्रतिक्रिया के लिये देखिये नवजीवन (पाक्षिक), अहमदाबाद 5-2-1922*
15. *गुजराती (साप्ताहिक) 19 अक्टूबर 1919 में देखिये मोतीभाई रामजी वरेडिया का लेख 'गुजरातना भील लोकोनुं सुधारानुं कांईक दिग्दर्शन'*
16. *देसाई ईश्वरलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 9-10*
17. *उपर्युक्त*
18. *उपर्युक्त, पृ. 9-17*
19. *See for detail : Hardiman David] The Coming of Devi : An Adivasi Assertion in South Gujarat, Delhi, 1986 and चांदोरीकर हरिरावजी, कालीपरजनी कहाणी (गुजराती), सूरत, 1925, पृ. 10, 27*
20. *जोषी सतीषचंद्र, तपोमूलत भक्ति बानो सेवा यज्ञ (गुजराती) अहमदाबाद 1982, पृ. 123-124*
21. *दवे जुगतराम, खादीभक्त चुनीभाई (गुजराती), अहमदाबाद, १६६६, पृ. १३-१४.*
22. *स्वराज्यना संभारणा (गुजराती), अहमदाबाद, १६७२, पृ. ५२.*
23. *Hardiman, Op-cit. p. 147.*
24. *नारायण देसाु, वेडछीनो वडलो (गुजराती), व्यारा, १६६८, पृ. १३७-१३८.*
25. *दवे जुगतराम, पूर्वोक्त, पृ. ७१.*
26. *नवजीवन (पाक्षिक) 10 फेबुआरी 1921, खास अंक-12, पृ. 2*
27. *नवजीवन (पाक्षिक) १६ जुलाू १६२२ 'भीलोनो धर्म' लेख में से और युगधर्म (मासिक) ज्येष्ठ १६८द्व, पुस्तक – ४, अंक – ३, पृ. १७३.*
28. *V-K-Vashistha] Bhagat Movement, Jaipur, 1997, p. 43*
29. *युगधर्म (गुजराती मासिक) ज्येष्ठ 1980, पुस्तक-4, अंक-3, पृ. 177*
30. *उपर्युक्त, पृ. 180*
31. *नवजीवन (पाक्षिक) 16 जुलाई 1922, पुस्तक-3, अंक-46, पृ. 363*
32. *भील सेवा मंडल, वालषक अहेवाल - 1927, दोहद, पृ. 20 और नवजीवन 16 जुलाई 1921, दक्षिण गुजरात में श्री रुपलाभाई अधरा ने वेडछी में आश्रम बनाने के लिये 30 एकड़ जमीन दान की थी (देखिये दवे जुगतराम, पूर्वोक्त, पृ. 95)*
33. *प्रेमसिंह कांकरिया, पूर्वोक्त, पृ. 24*
34. *गांधीजीनुं नवजीवन (गुजराती) पुस्तक 10 दिनांक 12 फेबुआरी 1922, पृ. 1866-67*
35. *कांकरिया, पूर्वोक्त, पृ. ६२-६३*
36. *देखिये : अर्थात् (त्रैमासिक, सेन्टर फोर सोश्यल स्टडीज, सूरत) जुलाई-अक्टूबर, डिसेम्बर में अरुण वाघेला का शोधपत्र 'बारडोली सत्याग्रह ने आदिवासी प्रतिसाद' (गुजराती)*
37. *क्षेत्रकार्य से प्राप्त माहिती, वेडछी, ता.-वालोड, जिला-सूरत*
38. *ईश्वरलाल देसाई, पूर्वोक्त, पृ. 261*
39. *उपर्युक्त*
40. *देखिये : निद्रात्याग या कालीपरज परिषद ना अहेवाल (गुजराती), सुरत, 1927*
41. *विस्तृत ब्यौरे के लिये देखिये सुमंत महेता, हाली (जमीनना गुलामो-गुजराती), सुरत, 1955*

# ग़ज़ल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

*जुगुल किशोर चौधरी*

ग़ज़ल विश्व की सबसे लोकप्रिय विधाओं में से एक है। ग़ज़ल के जन्म की पृष्ठभूमि साहित्य में स्पष्ट रूप से नहीं मिलती, विद्वान अनुमानों के आधार पर या श्रुति परंपरा का सहारा लेकर अपना-अपना मत देते नज़र आते हैं जिसमें ग़ज़ल की परिभाषा से लेकर उसके विकास की परंपरा का एक स्पष्ट स्वरूप ग़ज़ल प्रेमियों और साहित्य समाज के सामने नहीं आ पाता।

ग़ज़ल की परिभाषा और उसके विकास को लेकर विद्वानों का मत स्पष्ट नहीं है। अरबी भाषा में ग़ज़ल का अर्थ है औरतों से या औरतों के बारे में बाते करना। इस तरह ग़ज़ल की परिभाषा जो विद्वानों ने दी हैं उनसे यह पता चलता है कि ग़ज़ल का विकास प्रेमी-प्रेमिका की बातचीत से शुरू होता हुआ क़सीदों के साथ, हुश्न-बुलबुल, जाम-ओ-मीना के साथ अंकुरित हुआ। ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ जो विभिन्न शब्दकोशों में मिलता है उनमें से कुछ विशेष उदाहरण -

ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ है- ''प्रेमी प्रेमिका से वार्तालाप''[1]

''ऐसी पद्यात्मक रचना जिसमें नायिका के सौंदर्य एवं उसके प्रति उत्पन्न प्रेम का वर्णन हो।''[2]

पर्शियन भाषा में ग़ज़ल का अर्थ है– ''सुख़न अज़ ज़नाना गुफ़्तन" अर्थात औरतों से अथवा औरतों के बारे में बातचीत करने का तरीका अथवा माध्यम।[3]

वर्धा हिन्दी शब्दकोश के अनुसार- ''1. उर्दू हिन्दी या फ़ारसी में मुख्यतः प्रेम विषयक काव्य जिसमें प्रायः पाँच से ग्यारह शेर होते हैं और सभी शेर एक ही रदीफ़ और काफ़िया में होते हैं अर्थात् दूसरी कड़ी में अनुप्रास होता 2. प्रेमिका से वार्तालाप 3. पद्य या मुक्तक काव्य का वह रूप जिसमें प्रतिकात्मकता और गीतात्मकता के साथ अनुभूति की तीव्रता की प्रधानता होती है।''[4]

उर्दू हिन्दी शब्दकोश के अनुसार-''स्त्री-प्रेमिका से वार्तालाप; उर्दू फ़ारसी कविता का एक प्रकार विशेष, जिसमें प्रायः 5 से 11 शेर होते हैं। सारे शेर एक ही रदीफ़ और काफिए में होते हैं और हर शेर का मज़्मून अलग होता है, पहला शेर मतला कहलाता है जिसके दोनों मिसरे सानुप्रास होते हैं और अंतिम शेर 'मक्ता' होता है जिससे साइर अपना उपनाम लाता है। ग़ज़ल के संग्रह को दीवान एवं संपूर्ण प्रकार के पद्य संग्रह को 'बयाज़' कहते हैं।''[5]

फ़िराक गोरखपुरी के शब्दों में- ''ग़ज़ल असंबद्ध कविता है। ग़ज़ल का मिज़ाज मूलतः समर्पणवादी है।''[6]

शमशेर बहादुर के शब्दों में- ''ग़ज़ल एक लिरिक विधा है जिसकी कुछ अपनी शर्तें हैं। अपना प्रतीकवाद और जीवंत परंपरा है।''[7]

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 112-119*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

स्पष्ट रूप से विद्वानों और आलोचकों की नज़र में ग़ज़ल प्यार, मोहब्बत की बोली है। आशिक, माशूक, उनका प्यार तथा प्यार में उभरने वाली तमाम छटाओं का वर्णन ग़ज़ल में होता रहा है साथ ही इसकी अपनी कुछ शर्तें और नियम होते हैं। ग़ज़ल के शुरुआती दौर में ग़ज़ल सिर्फ प्रेमी-प्रेमिका या औरतों से बातचीत तक सीमित थी लेकिन जैसे-जैसे इसका विकास हुआ, ग़ज़ल की दशा-दिशा बदली और ग़ज़ल ऊह-आह के विषय से आगे निकल जन-जीवन के दुःख-दर्द, पीड़ा को बयां करने और जन-जन की आवाज़ बनने की दिशा में निरंतर बढ़ती चली गयी। लेकिन ग़ज़ल की परिभाषा और अर्थ का विकास नहीं हो सका, ग़ज़ल आज जिन ज्वलंत मुद्दों और उद्देश्यों को साथ लेकर चल रही है उस दृष्टि से ग़ज़ल को मात्र एक स्त्री या प्रेमी से वार्तालाप जैसी परिभाषा मूर्खतापूर्ण और ओछी प्रतीत होती है।

**1. अरबी-फारसी ग़ज़ल का इतिहास**

ग़ज़ल अरबी में जन्मी प्रसिद्ध काव्य विधा है जो धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में पर्शियन-फ़ारसी, उर्दू से होते हुए सम्पूर्ण भारत में अवतरित हुई। ग़ज़ल एक 'अरेबिक' शब्द है लेकिन विद्वानों का मानना है कि ग़ज़ल को मान्यता पर्शियन, उर्दू, हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती और अन्य भाषाओं में मिली है उतनी अरेबिक में नहीं। इतिहास भी यह स्पष्ट करता है कि ग़ज़ल का जन्म अरब देशों के रेगिस्तान में हुआ, जब वहाँ के निवासी कबीलों में रहते थे। अपने सरदार या राजा को ही अपना सर्वस्व मानते थे और किसी एक धर्म के उपासक नहीं थे। रात होते ही क़बीले के लोग एक साथ बैठ कर कुछ मनोरंजन या अमोद-प्रमोद करते थे। अपने सरदार की तारीफ में अक्सर क़सीदा पढ़ने और गाने का चलन था लेकिन क़सीदा कहने के पहले दो पंक्तियों का, प्रेम तथा प्रणयरस में डूबा, तश्बीब पढ़ने का प्रघात भी था।

समय बीतता गया अरब के नागरिकों ने इस्लाम अपनाया और धर्म प्रचार हेतु पर्शिया (ईरान) पर धावा बोल दिया। बहुतांश पर्शियन, मुसलमान हुए और कुछ अपने धर्म को बरकरार रखते हुए हिन्दुस्तान पहुँच गए। वही आज के लोग हमारे पारसी भाई हैं, पर्शिया में युद्ध के साथ धर्म परिवर्तन हुआ और साथ-साथ संस्कृति तथा रीति-रिवाजों का भी आदान-प्रदान हुआ। अरबों का क़सीदा और तश्बीब पर्शियन साहित्यकारों के पास पहुँचा। पर्शियन कवि विद्वान थे, अनुभवी थे, सौंदर्योपासक थे, रसिक थे और जीवन के हर रंग से वाकिफ़ थे। क़सीदा उन्होंने स्वीकार अवश्य किया लेकिन तश्बीब उनके मन को छू गया। दो पंक्तियों वाली मोहब्बत की दास्तान को बरकरार रखते हुए उन्होंने ग़ज़ल का निर्माण किया। इतिहास यह भी लिखता है कि पर्शियन कवि रोडकी (इ.स. 880-949) ने तश्बीब को क़सीदा से अलग किया और प्रेम रंग में रंगी, दो-दो पंक्तियों वाली, सबसे पहली ग़ज़ल आवाम को पेश की। यही पर्शियन ग़ज़ल, धर्म प्रचारक, आक्रांता तथा मुगलों की सेनाओं के साथ भारत आई। स्पष्टतः हजारो वर्ष पहले ग़ज़ल का जन्म ईरान में हुआ और इसे फ़ारसी भाषा में लिखा या कहा गया। ग़ज़ल का शुरुआती दौर अमीर खुसरो के कालखंड से शुरू होता है और ग़ज़ल पर्शियन भाषा में लिखी जाती थी तथा इसका विषय मोहब्बत और प्यार-मोहब्बत के सुख दुःख का हुआ करता था। ग़ज़ल विधा को फ़ारसी कवियों ने उनसे उधार लिया और उनके शिल्प का पालन करते हुए आगे बढ़े लेकिन विषयवस्तु को पीछे छोड़ दिया। पर्शियन ग़ज़लकारों ने अरबी-ग़ज़ल की कथावस्तु को आधार बनाकर बात तो दैहिक अथवा भौतिक प्रेम की ही की लेकिन अर्थ-विस्तार द्वारा दैहिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम में परिणत कर दिया। फ़ारसी-ग़ज़ल में अरबी-ग़ज़ल का 'इश्के-मजाज़ी' मतलब (सांसारिक प्रेम) से 'इश्के-हक़ीक़ी' (ईश्वरीय प्रेम) में बदल दिया।

फ़ारसी ग़ज़ल ने प्रेमी को साधक बना दिया तथा प्रेमिका को ब्रह्म का दर्जा प्रदान कर दिया। यह सब सूफी ग़ज़लकारों के कारण हुआ जिन्होंने सांसारिक प्रेम के माध्यम से ईश-प्रेम के प्रचार को उद्देश्य बनाकर

जनमानस में सुप्त पड़े दिव्य-तत्व को जगाने का अभियान शुरू किया। सूफ़ी साधना में विरह को मिलन से अधिक महत्व दिया जाता है। सूफ़ी साधना पद्धति का भवन ही विरह की नीव पर निर्मित है इसलिए फ़ारसी ग़ज़ल में संयोग पक्ष कभी मुखरता प्राप्त न कर सका। वियोग, पक्ष का प्रभुत्व सदैव बना रहा और ग़ज़ल में विरहदग्ध प्रेमियों के रुदन क्रंदन का स्वर प्रधान रहा। सूफ़ी परंपरा की अमिट छाप पर्शियन ग़ज़ल की एक विशेषता बन गई।

अमीर खुसरो आशु कवि थे, इन्हें फ़ारसी का पहला कवि माना गया/माना जाता है। ये संगीतज्ञ थे तथा ख़याल गायकी के जनक थे। जिन्हें हिंदवी भाषा पर बड़ा नाज़ था। आरंभ में उन्होंने ग़ज़ल को भला बुरा जरूर कहा किन्तु अंततः 450 ग़ज़लों की निर्मित भी की। उनकी कुछ गज़लों का पहला मिसरा पर्शियन में तथा दूसरा हिन्दवी में हुआ करता था। गोया -

*''यकायक अज़दिल दो चश्मे जादू, बसद फ़रेहम बबुर्द तस्की*
*किसे पड़ी है जो जा सुनाये पियारे पी को हमारी बतियाँ।*
*चूँ शम्अ सोज़ा, चूँ ज़र्रा हैराँ, ज़कहरे आँ मह बगुश्त आख़िर*
*न नीद नैना, न अंग चैना, न आप आवें न भेजे पतियाँ।''*[8]
*''ज़ हाले मिस्की मकुन तग़ाफुल दुराए नैना बनाए बतियाँ,*
*कि ताबे हिज़राँ न दारम ऐ जाँ, न लेहु काहे लगाए छतियाँ।''*[9]

*- अमीर खुसरो*

अमीर खुसरो को विद्वान ग़ज़ल का पहला कवि मानते हैं लेकिन स्वयं खुसरो अपनी शायरी में ग़ज़ल का पहला कवि मसऊद साद सलमान लाहौरी को अपने से पूर्व का ग़ज़लकार मानते हैं। इस प्रकार ग़ज़ल की परंपरा की नीव रखी तो अरबी में गयी लेकिन उसका विकास पर्शियन में ही हुआ।

**2. उर्दू-ग़ज़ल का इतिहास**

उर्दू तुर्की शब्द है और इसका अर्थ है लश्कर या सैनिकों की छावनी। उर्दू भाषा का जन्म सैनिकों के पड़ाव में हुआ जहां मुगल सैनिक अपनी-अपनी भाषा बोलते थे तथा भारतीय सैनिक, व्यापारी, स्त्रियाँ और नागरिक अपनी-अपनी भारतीय भाषा बोलते थे। इन सब भाषाओं के समागम से उर्दू भाषा का जन्म हुआ जिसे आरंभ में 'रेख्ता' कहा गया। इस भाषा का जन्म ग़ज़ल के विकास के कई सौ साल बाद हुआ। उर्दू भाषा का जन्म 1700 के आस-पास हुआ।

शाहजहाँ के कालखंड में रेख़ता का नामांतर 'उर्दू' हुआ। ग़ज़ल पर्शियन भाषा से उर्दू में आई और धीरे-धीरे भारत की अन्य भाषाओं में प्रविष्ट हो गयी। धीरे-धीरे उर्दू भाषा ने राजदरबारों में तथा आवाम की रोज़मर्राह की जिन्दगानी में भी अपनी धाक जमाई और पर्शियन को धीरे-धीरे पीछे छोड़ती चली गई। ग़ज़ल पर्शियन से हटकर उर्दू में लिखी जाने लगी। फिर भी प्रभाव अधिकतर पर्शियन शब्दों का, पर्शियन मुहावरों का, तथा दकनी बोली का हुआ करता था। दहलवी के शायरों का भी अच्छा खासा योगदान उर्दू ग़ज़ल के विकास में रहा। उर्दू ग़ज़ल के इतिहास में कई उतार-चढ़ाव और नए-नए मोड आए जिससे कई बार ग़ज़ल का स्तर गिरा भी और अंततः अच्छे शायरों की मौजूदगी ने ग़ज़ल को एक नया आयाम दिया।

ग़ज़ल जब फ़ारसी से उर्दू में आई तो उसका शिल्पगत परिवेश तो ज्यों का त्यों स्वीकृत हुआ लेकिन कथ्य एकदम भारतीय हो गया। दक्षिणी उर्दू के गजलकारों ने अरबी-फ़ारसी के स्थान पर भारतीय प्रतीकों, काव्य रूढ़ियों तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को लेकर ग़ज़ल-रचना की और यही कारण था कि ग़ज़ल की फ़ारसी

कथावस्तु (दैहिक प्रेम बनाम अध्यात्म) भी भारत की उपज प्रतीत होती रही। लेकिन जब यह काव्य विधा उत्तर भारत में आई तो फ़ारसी भाषा के शासकीय प्रभुत्व से अछूती न रह सकी।

मोहम्मद कुली कुतुब शाह उर्दू के पहले शायर हैं जिन्होंने अपना दीवान संकलित किया। 1850 में गोलकुंडा की कुतुबशाही सल्तनत के बादशाह बने शहर हैदराबाद इन्हीं का बसाया हुआ है। मोहम्मद कुतुबशाह पूरी तरह इश्क और शायरी में डूबे हुए थे। इनके बारे में कहा जाता है कि वो आम बातचीत भी शायरी के अंदाज़ में किया करते थे।

*''पिया बाज प्याला पिया जाए ना*
*पिया बाज यक तिल जिया जाए ना*
*कुतुब शह न दे मुज दिवाने को पंद*
*दिवाने कूँ कुछ पंद दिया जाए ना।''*[10]

उर्दू के आरंभिक परंपरा में मोहम्मद अली कुतुबशाह, चंद्रभान 'बरहमन' अब्दुल हसन तानाशाह, 'अयागी' मोहम्मद अमीन, सैयद मीराँ मियाँ खाँ 'हाशमी', इब्राहिम आदिलशाह 'शाही', सुलतान मोहम्मद कुतुबशाह, गव्वासी, वजही आदि से सवरते हुए 'वली' मोहम्मद वली तक पहुंची। जहाँ ग़ज़ल को एक नया मोड़ दिया। वली उर्दू के बाबा आदम कहे जाते हैं, इन्होंने उर्दू शायरी से पर्शियन शब्दों को काफी हद तक निकाल दिया।

*''खूबरू खूब काम करते हैं*
*यक निगाह में गुलाम करते हैं।*
*दिल जलाते हैं ऐ 'वली' मेरा*
*सर्व-क़द जब खिराम करते हैं।''*[11]

*- वली*

उर्दू परंपरा में शायरों ने खूब नाम कमाया और एक लंबी श्रंखला उर्दू ग़ज़ल के सामने विकसित हुई जिनमें सिराज़, दाऊद, फ़ाइज़ आबरू, मज़हर जाने जानां, ख़ान आरज़ू, हातिम, नाजी, फ़ूगाँ, यकरंग, आदि हुए। इसी दौर के मशहूर शायर मीर तकी मीर और सौदा हुए। इसी दौर को उर्दू शायरी का स्वर्णकाल कहा गया। इस दौर की ख़ासियत यह है कि इस जमाने के अधिकांश शायर सूफ़ी पंथ को मानते थे। इनकी ग़ज़लों में सूफ़ी पंथ के पवित्र विचारों का भी विवरण मिलता है। इस दौर के अन्य शायर सौज़, दर्द, असर, ताबाँ, यकीं, क़ायम, चांदपुरी, बेदार, बयान, अफसोस, जिया आदि हुए।

इसी युग के उत्तरार्ध के शायर हैं मुसहफ़ी, इंशा, जुरअत, रासिख़, हविस, शहीदी, रंगीन इत्यादि। इस दौर में दिल्ली के मुगलिया सल्तनत का चिराग टिमटिमा रहा था और शायर दिल्ली छोड़कर लखनऊ, रामपुर, फ़ैज़ाबाद आदि नगरों में पनाह ले रहे थे। फ़र्क इतना ही पड़ा कि उर्दू शायरी का स्तर कुछ गिर गया, अश्लीलता उभरने लगी, शायरी हल्की-फुलकी होने लगी और हृदय की धड़कनों और भावनाओं का बयान कम होकर स्त्री के बनाव, श्रंगार, नख़रे, नाजो-अदा तथा शारीरिक उतार चढ़ाव का वर्णन कुछ ज्यादा ही होने लगा। ग़ज़ल फिर से रीतिकालीन या अरबी प्रवृत्ति की ओर झुक गई।

*''दुपट्टे को आगे से न दुहरा ओढ़ो*
*नुमदार चीजें छुपाने से क्या हासिल''*[12]

इस तरह ग़ज़ल में अश्लीलता का ये दौर ज्यादा दिन तक आवाम को कुबूल नहीं हुआ और उसी समय उर्दू ग़ज़ल को ग़ालिब, ज़ौक़, मोमिन बहादुरशाह जफ़र, शाहनसीर, आर्जूदा, मम्नून, असीर, अमानत,

ज़कीं, आदि शायर मिले और जिन्होंने शायरी की खूबसूरती में चार चाँद लगा दिये। ग़ालिब ने ग़ज़ल में दार्शनिकता भर दी, ज़ौक़ ने आसान लफ़्ज़ों-बयानी, मोमिन ने प्यार की खूबसूरती और ज़फ़र ने बदनसीबी की टीस भर दी जिससे ग़ज़ल के विषय में बदलाव की झलक दिखने लगी।

*''ग़में-हस्ती का 'असद' किससे हो जुज़ मर्ग इलाज*
*शम्मा हर रंग में जलती है शहर होने तक।''*[13]

*- ग़ालिब*

*''लाई हयात आये क़ज़ा ले चली चले*
*अपनी खुशी न आये, न अपनी खुशी चले।''*[14]

*- ज़ौक़*

*''वो जो हममे तुममे करार था, तुम्हें याद हो कि न याद हो*
*वही वादा, यानी निबाह का, तुम्हें याद हो कि न याद हो।''*[15]

*- मोमिन*

*''कितना है बदनसीब 'ज़फ़र' दफ़्न के लिये*
*दो गज़ ज़मीन भी न मिली कू-ए-यार में।''*

*- ज़फ़र*

इस दौर में ग़ज़ल का सूरज अपनी पूरी शान से चमक रहा था। मुगलिया सल्तनत का सूरज डूब रहा था और अंग्रेजी हुकूमत का आफ़्ताब उफ़क़ पर उभर रहा था। अंग्रेजी हुकूमत आई और साथ ही शायरी की चाल भी मचल गई। इस समय ग़ज़ल की खिदमत की दाग, अमीर मीनाई, असीर, अमानत, जलाल, आज़ाद, शेफ़्ता, नसीम, हाली और अन्य शायरों ने। दाग ने उस्ताद शायर होने का रुत्बा हासिल किया। दाग के शागिर्द हुए साइल देहलवी, बेखुद देहलवी, आगा साइर, सीमाब, नूर नारवी, सर मोहम्मद इक़बाल इत्यादि सबने ग़ज़ल के विकास के आधार को जमाने की कोशिश की।

इस तरह ग़ज़ल अपने पंख फैलाती हुई सम्पूर्ण भारत में अपनी ख्याति जमाती हुई आगे बढ़ रही थी। तभी ग़ज़ल को काफ़ी गहरा झटका लगा। आज़ादी की जंग शुरू हो गई थी। दूसरा महायुद्ध ज़हर उगल रहा था। ग़रीबी, बेकारी और भूख मुँह बाये खड़ी थी और इंसानियत की जगह देश में हैवानियत फैल गई थी। जब्तशुदा नज़्म और बतनपरस्ती के गीत लिखे जाने लगे और नाज़ुक मिज़ाज वाली इश्किया ग़ज़ल घूंघट ओढ़ कर चिलमन के पीछे छिप गई और उसमें क्रांति, घुटन, आजादी की छटपटाहट का स्वर अंकुरित होने लगा।

*''सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है -*
*देखना है ज़ोर कितना बाजु-ऐ-क़ातिल में है।''*[16]

*- बिस्मिल*

*''सारे जहाँ से अच्छा हिन्दूस्ताँ हमारा*
*हम बुलबुले हैं इसकी, यह गुलिस्ताँ हमारा।''*[17]

*- इकबाल*

जंग खत्म हुई, आज़ादी हासिल हुई और ग़ज़ल चिलमन के पीछे से निकल कर फिर से इठलाने लगी। जिगर मुरदाबादी और हसरत मोहानी ने महबूब को खयाली दुनिया से निकालकर चलती-फिरती दुनिया में लाकर खड़ा किया। पुरानी शायरी में महबूब सिर्फ महबूब था, कभी आशिक न बना था। इन दो शायरों ने उसे

महबूब तो माना, साथ ही उसे एक मुकम्मल इंसान बना कर उसके दिल में चाहत भर दी और दूसरों से प्यार मोहब्बत की आरज़ू भी रख दी।

*''ये इश्क नहीं आसाँ इतना समझ लीजे*
*इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।''*[18]

*- जिगर मुरदाबादी*

*''चुपके चुपके रात दिन आँसू बहाना याद है*
*हमको अब तक आशिक़ी का वो ज़माना याद है।''*[19]

*- हसरत मोहानी*

उर्दू ग़ज़ल ने पर्शियन का ढांचा तो अपना लिया लेकिन उसका विषय वह पीछे छोड़ती चली गई और इस तरह उर्दू ग़ज़ल अब सिर्फ दरबारों की भाषा नहीं रही अपितु जन संपर्क और जन के दुख-सुख की भी भाषा बनी। आज़ादी के बाद भारत विभाजन की त्रासदी हुई और पाकिस्तान बना और इस उपक्रम में पाकिस्तानी उर्दू शायरी और शायरों ने भी अपना स्थान बनाया। पाकिस्तान के निर्माण के बाद उर्दू भाषा वहाँ की राष्ट्र भाषा हुई और ग़ज़ल अपने पुराने अंदाज में वहाँ भी कामयाब हुई। पाकिस्तानी साहित्यकारों में नयी प्रतिभावान और प्रतिष्ठित कवयित्रों ने काफ़ी शिरकत की और महिलाओं ने भी अपनी प्रमुख भूमिका निभाई और शायद यही वह पहला दौर है जहाँ ग़ज़ल साहित्य में स्त्री सहभागिता की शुरुआत हुई। जिनमे अदा जाफरी, परवीन शाकिर प्रमुख हैं।

*''आखिरी टीस आज़माने को*
*दिल तो चाहा था मुस्कुराने को*
*हाथ काँटों से कर लिए ज़ख़्मी*
*फूल बालों में एक सजाने को।''*

*- अदा ज़ाफरी*

*''मैं क्यों उसको फोन करूँ*
*उसके भी तो इल्म होगा*
*कल शब, मौसम की पहली बारिश थी।''*

*- परवीन शाकिर*

इन महिला ग़ज़लकारों के अलावा किश्वर नाहीद, फातमा हसन, ज़ेहरा निगाह, परवीन फ़ना सैयद आदि प्रमुख हुई और आज के इस दौर में बहुत अधिक मात्रा में महिलाओं ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई और बेहतरीन ग़ज़ल लिखने की कड़ी को बरकरार रखा है। पाकिस्तान की सर-ज़मी में मशहूर शायरों में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, अहमद नदीम कासमी, सलीम बेताब, अहमद फराज़, नासिर काज़मी, अनवर शऊर, इफतिखार आरिफ़, ज़हूर नज़र, अहतर नफ़ीस, एहसान दनिश, मुहशीन भोपाली, साहबा अख़्तर आदि सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार हुए जिन्होंने पाकिस्तान की ज़मीन में जन्म तो लिया लेकिन दौलत, इज्जत और शोहरत इन्हें भारत में मिली।

इस तरह ग़ज़ल अपने आधुनिक दौर में प्रवेश कर गई। यह दौर फ़िल्म और फ़िल्मी गाने और उनके रिकार्ड से जुड़ा हुआ है। इसी दौर को डॉ. विनय वाईकर 'त्रिवेणी संगम युग' नाम देते हैं। यह बताते हैं कि त्रिवेणी संगम में तीन बाते होनी चाहिए- शब्द, स्वर और संगीत। आज़ादी मिलते ही मुंबई नगरी में फ़िल्म जगत का जन्म हुआ। ग़ज़ल बड़ी आसानी से उस दुनियाँ में घुल मिल गई क्योंकि ग़ज़ल की तबीयत रूमानी थी और

मिज़ाज आशिक़ाना था। जिगर सफ़दर, अली सरदार जाफ़री, मजरूह सुल्तानपुरी, शकील बदायूनी, साहिर लुधियानवी, राजा मेहदी अली ख़ान शैलेंद्र जैसे बेहतरीन शायर थे। सज्जाद, अनिल बिस्वास, नौशाद, मदन मोहन, शंकर-जयकिशन, खय्याम, सी. रामचंद्रन और एस.डी बर्मन जैसे संगीतकार थे और कुन्दनलाल सहगल, मोहम्मद रफ़ी, तलत महमूद, मुकेश, लता, मुबारक बेगम, शमशाद बेगम, आशा भोसले और सुमन कल्याणपुर जैसे फनकार थे। इस तरह इन ग़ज़लगो के ज़रिए ग़ज़ल रेडियो और रिकार्ड के माध्यम से पूरे भारत में घर-घर घुस गई और हर दिल अजीज हो गई।

यह सर्वविदित है कि ग़ज़ल लिखने वाले ग़ज़लकारों ने जितना नाम ग़ज़ल लिखकर नहीं कमाया उससे ज्यादा दौलत सोहरत ग़ज़ल गायकों ने गाकर प्राप्त किया है। यह ग़ज़लकारों की बदकिस्मती थी कि जो ग़ज़ल उन्होंने लिखी आज भी आवाम उनके गाने वाले गायकों के नाम से ही जानते हैं।

ग़ज़ल ऐसे सम्पूर्ण भारत में ज़िंदगी की तल्ख हकीकत को आवाम के सामने परोसने लगी और दर्द-ए-दिल में मरहम लगाने लगी, आवाम को सुकून देने लगी। आज उर्दू ग़ज़ल बेपर्दा होकर शायरों के साथ गली, कूँचे और राजपथ पर घूमने लगी है, सवाल पूछने लगी है, जबाब भी देने लगी है और आज उर्दू-हिंदी दोनों भाषाओं में ग़ज़ल कहने की परंपरा का विकास समकालीन उर्दू ग़ज़लकार कर रहे हैं जिनमें से प्रमुख हैं- मुनव्वर राना, राहत इंदौरी आदि।

*''लिपट जाता हूँ माँ से और मौसी मुस्कुराती है,*
*मैं उर्दू में ग़ज़ल कहता हूँ और हिन्दी मुस्कुराती है''*[20]

*- मुनव्वर राना*

मुनव्वर राना वर्तमान उर्दू ग़ज़ल की वह सख्शियत हैं जिन्होंने हिन्दी-उर्दू के झगड़े को खत्म करने का काम किया। उर्दू ग़ज़ल ने सादगी की सीढ़ी पकड़कर समाज के यथार्थ की सच्चाई को बयां करने की अथक कोशिश की है और यही कारण है कि आज उर्दू में लिखी जाने वाली ग़ज़लें या उर्दू का ग़ज़लकार हिन्दी पाठकों का एक अभिन्न हिस्सा बन चुका है। आज उर्दू-हिन्दी का भेद धीरे-धीरे खत्म होता जा रहा है जिसका प्रमुख कारण है सीधी-सहज-सरल भाषा का प्रयोग जो जन-जीवन तक सफलता पूर्वक पहुँच रहा है।

निष्कर्षत : ग़ज़ल का विकास पर्शियन से होता हुआ उर्दू, हिन्दवी, रेख़ता, मसनवी, या हिन्दोस्तानी तक का सफ़र तय किया।

*हिन्दी विभाग,*
*डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003*

**सन्दर्भ -**

1. *डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, (दिल्ली ; राजकमल प्रकाशन, 2015),पृ. सं. 139.*
2. *डॉ. हरदेव बाहरी, राजपाल हिन्दी शब्दकोश, (दिल्ली; राजपाल एंड संज, 2010), पृ.सं. 203.*
3. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
4. *सं. राम प्रकाश सक्सेना, वर्धा हिन्दी शब्दकोश, (दिल्ली; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक, 2015), पृ.सं. 341.*
5. *सं. मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'माद्दाह', उर्दू हिन्दी शब्दकोश, (लखनऊ ; उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, 2012), पृ.सं. 177.*
6. *डॉ. सरस्वती पाण्डेय एवं गोविन्द पाण्डेय, हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, (इलाहाबाद; अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2014), पृ.सं. 228.*

7. *डॉ. सरस्वती पाण्डेय एवं गोविन्द पाण्डेय, हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, (इलाहाबाद; अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2014), पृ.सं. 228.*
8. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
9. *रामनारायण स्वामी 'अंका', समकालीनता और हिन्दी ग़ज़ल, (दिल्ली; नवचेतन प्रकाशन, 2005), पृ.स. 25.*
10. *संकलन फ़हरत एहसास, ग़ज़ल उसने छेड़ी, (नोएडा; रेख़ता बुक्स प्रकाशन, 2016), पृ.सं.25.*
11. *संकलन फ़हरत एहसास, ग़ज़ल उसने छेड़ी, (नोएडा ; रेख़ता बुक्स प्रकाशन, 2016), पृ.सं.51.*
12. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
13. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
14. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
15. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
16. *सं. शाहिना तबस्सुम, उर्दू शायरी : एक चयन, (दिल्ली ; सस्ता साहित्य मण्डल, 2015), दो शब्द.*
17. *सं. शाहिना तबस्सुम, उर्दू शायरी : एक चयन, (दिल्ली ; सस्ता साहित्य मण्डल, 2015), दो शब्द.*
18. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
19. *डॉ. ज़रीना सानी एवं डॉ. विनय वाईकर, आईना-ए-ग़ज़ल, (नागपुर; श्री मंगेश प्रकाशन, 2002), रुदादे-ग़ज़ल.*
20. *मुनव्वर राना, माँ, (दिल्ली ; राजकमल प्रकाशन, 2015), पृ.सं. 12.*

# प्राचीन समाज का दर्पण : आमखो के शैलचित्र

*सुल्तान सलाहुद्दीन*

भारतीय समाज में मानवीय विचारों तथा क्रिया-कलापों को व्यक्त करने के लिए कई प्रकार के माध्यमों का प्रयोग किया जाता रहा है, इनमें लेखन, चित्रण, नृत्य, संगीत आदि विशेष स्थान रखते हैं। इन्हीं माध्यमों के द्वारा किसी कालखण्ड तथा क्षेत्र विशेष की सामाजिक स्थिति को भी ज्ञात किया जा सकता है। विद्वानों का यह मानना है कि लेखन कला से सम्बन्धित साहित्यिक स्रोत अथवा पुस्तक किसी कालखण्ड तथा क्षेत्र विशेष की सामाजिक स्थितियों के साथ-साथ विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करने में विशेष योगदान प्रदान करते हैं। कई बार ऐसा भी देखने को मिलता है कि जिस साहित्यक स्रोत अथवा पुस्तक के माध्यम से किसी कालखण्ड तथा क्षेत्र विशेष के सामाजिक पक्षों को जानने का प्रयास किया जाता है। उस साहित्यिक स्रोत में कुछ त्रुटियुक्त तथ्यों के समाहित होने की भी सम्भावना बनी रह सकती है, इस दशा में तत्कालीन समाज के विषय में कुछ भ्रामक स्थिति उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर तत्कालीन समाज से सम्बन्धित पुरातात्त्विक स्रोतों के अध्ययन एवं उनके निष्कर्ष के माध्यम से उस समाज से सम्बन्धित साहित्यिक स्रोतों में उत्पन्न होने वाली भ्रामक स्थिति को भी बड़ी सरलता से समाप्त किया जा सकता हैं।

जिस प्रकार से प्राचीन भारत की सामाजिक स्थिति तथा उसके विभिन्न पक्षों की जानकारी ज्ञात करने के लिए प्राचीन समय की कला को एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रुप में माना जाता है उसी प्रकार से तत्कालीन समाज की जानकारी प्राप्त करने में शैलचित्र भी महत्त्वपूर्ण स्रोत के रुप में प्रयोग किए जाते हैं। किसी भी शैलचित्र से सम्बन्धित पुरास्थल के आस-पास का प्राचीन अथवा तत्कालीन समाज किस प्रकार का रहा होगा उस स्थान से प्राप्त शैलचित्रों के माध्यम से बड़ी ही सरलता से ज्ञात किया जा सकता है। इसी स्रोत के माध्यम से मध्यप्रदेश के अशोकनगर जिले में स्थित 'आमखो' नामक पुरास्थल पर दृष्टव्य शैलचित्रों के माध्यम से इस क्षेत्र विशेष पर घटित मानवीय क्रिया-कलापों का अध्ययन कर तत्कालीन समय की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ समाज के विभिन्न पक्षों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है।

प्रारम्भिक मानव ने अपने दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को व्यक्त करने के माध्यम खोज निकाले थे, जो कालान्तर में एक विशेष प्रकार की कला के रुप में विकसित हुए जिन्हें शैलचित्रों के नाम से जाना जाता है। जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक मानव के द्वारा शिलाओं पर बनाए जाने वाले चित्रें को ही शैलचित्र कहा जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भिक मानव ने शैलचित्रों को बनाने के लिए किन स्थानों का चयन किया तथा शैलचित्रों के चित्रण में किन वस्तुओं का प्रयोग किया? इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के लिए भारत में शैलचित्रों पर हुए शोध कार्यों पर प्रकाश डालना अति आवश्यक हो जाता है। भारत में

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 120-130*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

शैलचित्रों के अध्ययन की बात की जाए तो इस अध्ययन को तीन काल खण्डों में वर्गीकृत करके देख जा सकता है। प्रथम कालखण्ड को 1880 ई. से 1932 ई. के मध्य रखा जाता है,[1] इसके अन्तर्गत् 1880 ई. में उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले से कार्लाइल महोदय ने शैलचित्रों की खोज कर उन पर अध्ययन कार्य प्रारम्भ किया गया। इसी क्रम को जारी रखते हुए जे. काकबर्न महोदय ने 1883 ई. में कैमूर क्षेत्र की पहाड़ी से शैलचित्रें सहित लघु पाषाण उपकरणों की खोज की तब से भारत में शैलचित्रों पर अध्ययन कार्य का प्रारम्भ माना जाता है।[2] कार्लाइल एवं जे. काकबर्न के पश्चात् निरन्तर 1932 तक सी. मेक्सवेल, सी. ए. सिल्वर्ड, हीरानन्द शास्त्री, जी. आर. हन्टर आदि कई विद्धानों द्वारा शैलचित्रों पर शोध कार्य किया गया[3] तथा विभिन्न शोध-पत्रों तथा पुस्तकों में इन शोध कार्यों को प्रकाशित भी किया गया।

शैलचित्रों पर शोध कार्य का दूसरा कालखण्ड 1932 ई. से 1945 ई. के मध्य माना जाता है, इस कालखण्ड के विद्वानों में डी. एच. गॉर्डन महोदय का प्रमुख योगदान रहा है।[4] इन्होंने मध्यप्रदेश के पचमढ़ी एवं उसके आस-पास के क्षेत्र पर व्यापक रुप में सर्वेक्षण कार्य कर शैलचित्रों से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण पुरास्थलों को खोज निकाला तथा उनका विश्लेषण अपने शोध-पत्रों में प्रस्तुत किया।[5] दूसरी तरफ इसी कालखण्ड में एफ. आर. आल्चिन महोदय ने दक्षिण भारत के कई स्थानों से शैलचित्रों से सम्बन्धित पुरास्थलों को खोज निकाला तथा उन विवरणों को अपनी पुस्तक में प्रकाशित करने के साथ-साथ अन्य विभिन्न शोध-पत्रों में भी प्रकाशित करवाया।[6] देखा जाए तो भारतीय शैलचित्रों पर विस्तृत शोध कार्य तीसरे कालखण्ड में स्वतन्त्रता के पश्चात् आरम्भ हुआ, जब शैलचित्रों के तिथि निर्धारण सम्बन्धी समस्या के समाधान हेतु शैलचित्रों से सम्बन्धित शैलाश्रयों तथा पुरास्थलों पर पुरातात्त्विक उत्खनन करवाया गया। तीसरे कालखण्ड के अन्तर्गत् शैलचित्रों पर शोधकार्य करने वाले विद्वानों में वी. एस. वाकणकर तथा डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय ने भीमबेटका जैसे अतिमहत्वपूर्ण पुरास्थल की खोज की तथा यहाँ के शैलाश्रयों में उत्खनन कार्य के द्वारा उद्घाटित पुरावशेषों के माध्यम से यहाँ के शैलचित्रों की तिथि निर्धारित कर विश्व के अन्य शैलचित्रों के समान प्राचीन होने का भी प्रमाण प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त प्रो. आर. के. वर्मा, प्रो. वी. एन. मिश्र, जगदीश गुप्ता आदि विद्वानों के द्वारा भी कई शैलचित्रों से समबन्धित पुरास्थलों की खोज कर शैलचित्रों के अध्ययन में विशेष योगदान प्रदान किया गया।[7] इन विद्वानों के पश्चात् भी विभिन्न विश्वविद्यालय के शोधार्थियों तथा पुराविदों के द्वारा भारतीय शैलचित्रों पर शोध कार्य को निरन्तर किया जा रहा है।

उपर्युक्त कालखण्डों में शैलचित्रों पर हुए निरन्तर शोध कार्यों के आधार पर यह जानकारी प्राप्त होती है कि प्रारम्भिक मानव ने चित्रों के चित्रण कार्य के लिए छोटी-बड़ी नदियों के किनारों पर स्थित शैलाश्रयों के साथ-साथ पहाड़ों की कन्दराओं की दीवारों तथा छतों का चुनाव किया होगा। यही कारण है कि भारत में जितने भी शैलचित्रों की खोज हुई हैं वे सभी किसी न किसी शैलाश्रय की दीवारों एवं छतों की सतह पर बने हुए प्राप्त होते हैं। शैलचित्रों के चित्रिण में जिन रंगों का प्रयोग किया जाता था वह एक विशेष प्रकार के पत्थर को घिस कर बनाया जाता था जिसे हेमेटाइड पत्थर कहा जाता है, इसकी पुष्टि तब हुई जब 1972-73 ई. में भीमबेटका के उत्खनन से वाकणकर महोदय को III F.23 से हेमेटाइड पत्थर के कुछ घिसे हुए टुकड़े प्राप्त हुए।[8] इनके अतिरिक्त 1974-75 ई. में उत्खनन कार्य के दौरान भीमबेटका के III F.28 से हरे रंग के अतिरिक्त अन्य रंगों के घिसे हुए पत्थर के टुकड़े भी प्राप्त हुए थें।[9] प्रारम्भिक मानव इन्ही पत्थरों के माध्यम से शैलचित्रों को चित्रित एवं अलंकृत करने के लिए लाल, गेरुए, हरे तथा पीले रंगों को बनाकर पतले एवं मोटे ब्रुश से चित्रण कार्य किया करते थें। प्रारम्भिक मानव ने चित्रण कार्य करने के लिए अधिकतर लकड़ी, सींग, हड्डी आदि वस्तुओं से पतले एवं मोटे ब्रुश निर्मित किया करते थे, ये वस्तुएँ कम समय में ही नष्ट हो जाने के कारण पुरास्थ्लों से प्राप्त नहीं हो सकी।

भीमबेटका के शैलचित्रों पर वी.एस. वाकण्कर तथा डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय द्वारा किये गये शोध कार्यों से इन शैलचित्रों के चित्रण तकनीक के साथ-साथ शैलचित्रों के विविध पक्षों को बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय द्वारा अपनी पुस्तक 'इण्डियन रॉक आर्ट' में शैलचित्रों के चित्रण तकनीक के विषय पर विभिन्न विद्वानों के मतों के साथ-साथ शैलचित्रों के विविध पक्षों की भी जानकारी प्रदान की है।[10] यदि शैलचित्रों के चित्रण तकनीक की बात की जाये तो यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक मानव ने जिन चित्रों को शैलाश्रयों की दिवारों पर चित्रित किया उनमें स्वभाविक वाह्य रेखानुकृत, पारम्परिक, निरुढ़, सुनियोजित अलंकरण आदि शैलियों का प्रभाव दिखलाई देता है, जिनका विकसित स्वरुप ऐतिहासिक काल में मनोनीत एवं पूरक शैली में चित्रित शैलचित्रों में स्पष्ट परिलक्षित होता है।[11] जिस प्रकार से शैलचित्रों की चित्रण शैली अलग-अलग प्रकार की है उसी प्रकार उनका चित्रण भी अलग-अलग काल में हुआ। भारत में विश्व के समान ही सबसे प्राचीन शैलचित्र उच्च-पुरापाषाणकाल में चित्रित किये गये किन्तु भारत में इस काल में चित्रित शैलचित्रों की खोज बहुत कम हो सकी है। उच्च-पुरापाषाणकाल की तुलना में मध्यपाषाणकाल में शैलचित्रों का चित्रण अधिक होने लगा था किन्तु भारत में खोजे गये सर्वाधिक शैलचित्र ताम्रपाषाणकाल में चित्रित किये गये थे। ताम्रपाषाणकाल के पश्चात् शैलाश्रयों में चित्रों को चित्रित करने की परम्परा ऐतिहासिक काल में पूर्व मध्य काल तक तक चलती रही। ऐतिहासिक काल में सर्वाधिक शैलचित्रों का चित्रण कुषाण काल में होता रहा, पूर्व मध्य काल के शैलचित्रों को देखकर बड़ी ही सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह काल शैलचित्रों के अवनति का काल रहा होगा।

शैलचित्रों से सम्बन्धित पुरास्थलों के चित्रों का अध्ययन करने पर यह पाया गया कि जो चित्र जिस काल में चित्रित किये गये उन चित्रों में उसी काल के समाज की झलक दिखलाई पड़ती है, चाहे वह प्रागैतिहासिक काल के शिकारी एवं खानाबदोशी समाज से सम्बन्धित शैलचित्र हों अथवा ऐतिहासिक काल के विकसित समाज से सम्बन्धित शैलचित्र ही क्यों न हों। प्रत्येक कालखण्ड में चित्रित शैलचित्रों में तत्कालीन समय एवं क्षेत्र विशेष के समाज का किसी न किसी रुप में चित्रण प्राप्त हो ही जाता है। शैलचित्रों के माध्यम से तत्कालीन समय एवं क्षेत्र विशेष के सामाजिक पक्षों को ज्ञात करने के लिये शैलचित्रें का वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है, अतः शैलचित्रों का वर्गीकरण शैलचित्रों के आकार प्रकार, चित्रों की पहचान, चित्रों में चित्रित भाव तथा चित्रण शैली के साथ-साथ उक्त स्थान विशेष से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर किया जा सकता है। उपर्युक्त के अनुसार शैलचित्रों को तीन प्रमुख वर्गों के साथ-साथ विभिन्न उपवर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. प्रागैतिहासिक काल के समाज से सम्बन्धित शैलचित्र।
2. पूर्व ऐतिहासिक काल के समाज से सम्बधित शैलचित्र।
3. ऐतिहासिक काल के समाज से सम्बन्धित शैलचित्र।

प्रथम वर्ग अर्थात प्रागैतिहासिक काल के समाज से सम्बन्धित शैलचित्रों में अधिकांशतः शिकारी समूह के चित्रों का ही चित्रण किया जाता था क्योंकि प्रागैतिहासिक काल के मानव के पास भोजन सम्बन्धी आश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र साधन पशुओं का शिकार ही हुआ करता था। इस काल के शैलचित्रों में शिकार सम्बन्धित चित्रों को दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है, पहले उपवर्ग में मनुष्य द्वारा किसी पशु के शिकार के दृश्य को रखा जा सकता है तथा दूसरे उपवर्ग में किसी हिंसक पशु द्वारा किसी अन्य पशु के शिकार के दृश्य को रखा जा सकता है। इस काल के मानवों नें शिकार करने के बाद की प्रसन्नता को भी शैलचित्रों के माध्यम से व्यक्त करने का भी प्रयास किया, यही कारण है कि इस काल के शैलचित्रों में सामूहिक नृत्य एवं उल्लास युक्त मुद्राओं में मानव समूहों के चित्र सामान्यतः प्राप्त हो जाया करते हैं।

दूसरे वर्ग में पूर्व ऐतिहासिक काल में चित्रित शैलचित्रों को रखा गया है। इस काल में मानव खानाबदोश जीवन से मुक्ति पाकर स्थायी जीवन जीने लगा था, यही कारण है कि स्थाई जीवन की ओर अग्रसर मानव की झलक इस काल के शैलचित्रों में स्पष्ट दिखलाई देती है। इस काल में पूर्व की भाँति शिकार सम्बन्धी चित्रों के साथ-साथ तत्कालीन समाज में प्रचलित खाद्य संग्रहण एवं पशुपालन की क्रियाओं को करते हुए मानव के चित्रों को विशेष रुप से चित्रित किया जाता था। इनके अतिरिक्त इस काल में आवागमन के साधनों, पेड़-पौधों, पक्षियों, फूलों, विभिन्न अलंकरणों आदि के चित्रों को भी विकसित शैलियों में चित्रित किया जाने लगा था।

तीसरे एवं अन्तिम वर्ग में ऐतिहासिक काल में चित्रित शैलचित्रों को रखा गया है, इस वर्ग के शैलचित्रों का चित्रण पूर्व मध्य काल तक होता रहा जिनमें सर्वाधिक शैलचित्र कुषाण काल में चित्रित किये जाते थे। ऐतिहासिक काल में मानव पूर्णतः स्थायी जीवन जीने के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कार्यों को भी करने लगा था, यही कारण है कि इस काल के शैलचित्रों में सामाजिक कार्यों को करते हुए मनुष्यों के चित्रों की प्रधानता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इस काल में शिकार सम्बन्धी चित्रों का चित्रण लगभग समाप्त हो चला था, इनके स्थान पर सामाजिक कार्यों को करते मानव समूहों का चित्रण अधिक होने लगा था। इसी काल के चित्रों में पशुओं के अतिरिक्त पक्षियों, अलंकृत फूल-पत्तियों का भी चित्रण बड़ी संख्या में किया जाने लगा। इस काल के शैलचित्रों में यज्ञ अनुष्ठान एवं अन्य विविध चित्रों के साथ-साथ युद्ध दृश्यों के चित्रों को पूरक शैली में चित्रित किया जाने लगा। युद्ध दृश्यों में घुड़सवार योद्धा एवं पैदल सेना के चित्र विशेष महत्व रखते हैं। उपर्युक्त कालखण्डों से सम्बन्धित शैलचित्र 'आमखो' नामक स्थान पर स्थित शैलाश्रयों से भी प्राप्त हुए हैं। 'आमखो' से प्राप्त शैलचित्रों के आधार पर ही यहाँ के तत्कालीन समाज के विभिन्न पक्षों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है, अतः यही कारण है कि शोधार्थी ने 'आमखो' के शैलचित्रों को इस शोध-पत्र के लिये चुना।

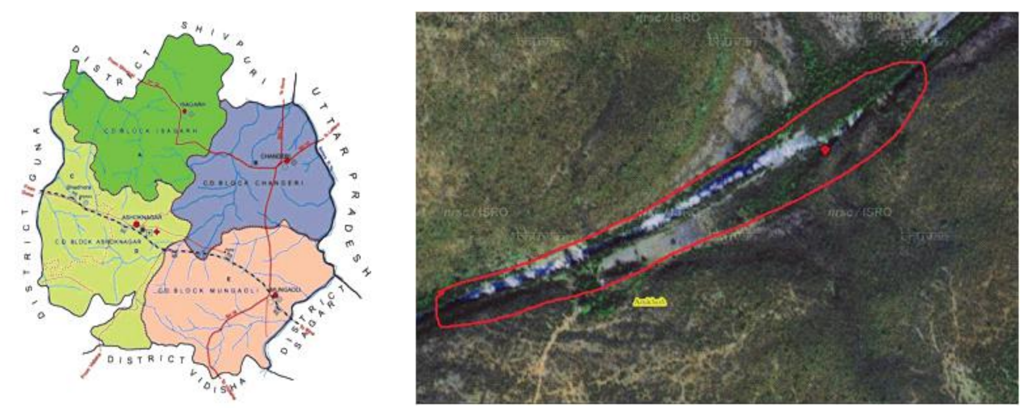


अशोकनगर जिले में आमखो पुरास्थल की स्थिति

'आमखो' नामक पुरास्थल मध्यप्रदेश में अशोकनगर जिले के चंदेरी तहसील में अशोकनगर जिला मुख्यालय से लगभग 32 कि.मी. की दूरी पर सुरेल नामक गाँव के समीप से प्रवाहित होने वाली ओर नदी की सहायक लघु जलधारा 'रांची नदी' के दाहिने तट पर लाल बलुए पत्थर से निर्मित शैलाश्रयों में $24^{0}$ 43' 03'' उत्तरी अक्षांश तथा $77^{0}$ 56' 22 पश्चिमी देशांतर के मध्य स्थित है। चंदेरी तहसील में शैलचित्रों सम्बन्धी पुरास्थल की खोज करने का श्रेय सी. वी. त्रिवेदी तथा टी. वी. जी शास्त्री जी को जाता है। सी. वी. त्रिवेदी

महोदय ने सन् 1975-76 ई. में गुना (अशोकनगर) जिले के चंदेरी तहसील में बेसरा तथा नानोन गाँवो के पास से प्रवाहित होने वाली 'ओर' नदी के दोनों तटों पर स्थित चुड़ैल का डेरा नामक स्थान पर स्थित शैलचित्रों से सम्बन्धित पुरास्थल की खोज की थी।[12] सी. वी. त्रिवेदी महोदय का यह खोज 'मोर पेन्टेड रॉक शेल्टर्स फ्रॉम मध्यप्रदेश' शोध-पत्र के रुप में 1997 में इफेक्ट ऑफ इण्डियन सिविलाईजेशन ,भाग-1 नामक पुस्तक में प्रकाशित भी हुआ।[13]

उपरोक्त शोध कार्य को आधार मानते हुए शोधार्थी ने चंदेरी तहसील में स्थित शैलचित्रों से सम्बन्धित अज्ञात पुरास्थलों को खोजने का निश्चय किया। अप्रैल 2017 में अशोकनगर के पिपरई तहसील में शोधार्थी को शोधकार्य के दौरान चंदेरी तहसील में स्थित सुरेल नामक गाँव के निकट शैलचित्रों से सम्बन्धित पुरास्थल होने की जानकारी प्राप्त हुई। पिपरई तहसील के अतिरिक्त चंदेरी तहसील में सर्वेक्षण करते समय वहाँ के निवासी पर्यटक गाईड श्री मुजफ्फर अली (कल्ले भाई) द्वारा भी आमखो पुरास्थल पर चित्रित शैलचित्रों के विषय में जानकारी प्रदान की गई थी। तत्पश्चात् शोधार्थी ने शैलचित्रों की खोज करने के उद्देश्य से सुरेल नामक गाँव पहुँचा, वहाँ पहुँचने के पश्चात् यह जानकारी मिली की गाँव के निकट से जो नदी प्रवाहित होती है, उसी के किनारे की छोटी-बड़ी गुफाओं की दीवरों तथा छतों पर कुछ चित्र बने हुए हैं जिन्हें स्थानीय लोग 'शेरदाँत' के नाम से पुकारते हैं। इस स्थल के पास पहुँचने के बाद शोधार्थी ने देखा कि यहाँ के शैलाश्रयों में बड़ी मात्रा में प्रागैतिहासिक से लेकर ऐतिहासिक काल तक चित्रण परम्परा में निरन्तरता प्राप्त होती है। यहाँ के चित्रों को हल्के एवं गहरे लाल रंगों के अतिरिक्त कत्थई रंगों के प्रयोग से मानव, पशु-पक्षी, फूल-पत्तियों, विभिन्न प्रकार के सामाजिक दृश्यों के साथ-साथ विभिन्न अलंकृत आकृतियाँ चित्रित किए गए हैं। इन चित्रों को बनाने के लिए मोटी-पतली एवं आड़ी-तिरछी रेखाओं का प्रयोग किया गया है। यहाँ के शैलचित्रों को देखने के पश्चात् शोधार्थी ने इन शैलचित्रों के माध्यम से यहाँ के तत्कालीन समय के समाज एवं उनके विभिन्न पक्षों को ज्ञात करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रुप में प्रयोग करने का निश्चय किया।

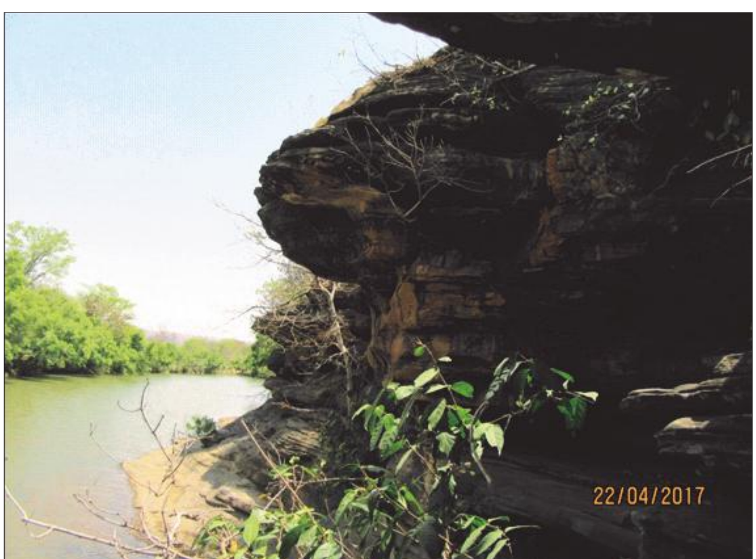


'राची' नदी एवं उसके प्रवाह क्षेत्र के दाहिने किनारे पर स्थित चित्रित शैलाश्रयों (आमखो) का सामान्य दृश्य

'आमखो' पुरास्थल पर लाल बलुए पत्थर से निर्मित छोटे-बड़े कई प्राकृतिक शैलाश्रय हैं, इनमें से लगभग पाँच शैलाश्रयों में चित्रित शैलचित्रों की खोज की जा चुकी है। यहाँ से प्राप्त शैलचित्रों में प्रारभिक मानव द्वारा तत्कालीन समय में किए गए क्रिया-कलापों से सम्बन्धित चित्रों के साथ-साथ मानव समाज के क्रमिक विकास को प्रदर्शित करते हुए चित्र भी विद्यमान हैं। इस पुरास्थल पर छायांकन विधि के माध्यम से विभिन्न कालखण्डों में घटित सामाजिक तथा गैरसामाजिक घटनाओं को प्रदर्शित करते हुए शैलचित्रों को छायाचित्र में कैद करने का प्रयास किया गया है। इन्हीं छायाचित्रों में से कुछ छायचित्रों के माध्यम से 'आमखो' क्षेत्र पर प्राचीन समय के मानव समाज में घटित सामाजिक घटनाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

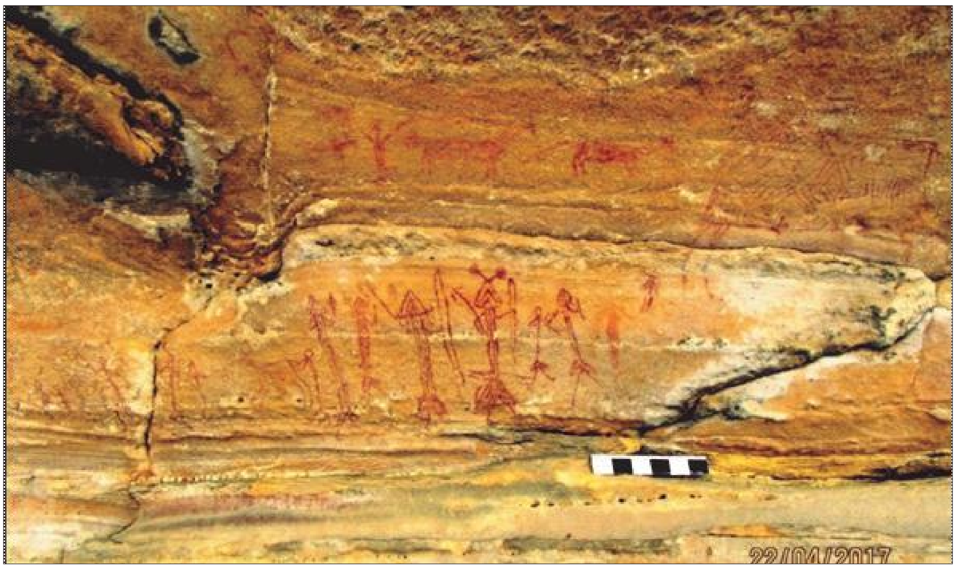


छायाचित्र संख्या एक में चित्रित प्रागैतिहासिक काल के शिकारी समूह

उपर्युक्त छायाचित्र में लाल रंग का प्रयोग करते हुए दोहरी रेखाओं से प्रागैतिहासिक काल के मानव समूहों के चित्र दिखलाई दे रहे हैं, जिनके एक हाथ में धनुष तथा दूसरे हाथ में लघु पाषाण उपकरणों से युक्त नोकदार बाण लिये हुये चित्रित किया गया है। इस छायाचित्र के चित्रों में मानव के अतिरिक्त कुछ पशुओं के चित्र भी चित्रित देखे जा सकते हैं। मानव एवं पशुओं के चित्रों को देखने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि इस शैलाश्रय में तीन अलग-अलग शिकारी समूहों को चित्रित किया गया है। पहले शिकारी समूह के चित्र छायाचित्र के बाएँ भाग में नीचे की तरफ चित्रित हैं, इस शिकारी समूह द्वारा एक पशु को पकड़े हुए चित्रित किया गया है। दूसरे शिकारी समूह के चित्र को छायाचित्र के मध्य में निचले भाग पर देखा जा सकता हैं, इस शिकारी समूह को छायाचित्र के दाहिने ओर ऊपरी भाग में चित्रित एक बड़े पशु का शिकार करते हुए चित्रित किया गया है। छायाचित्र में दिखने वाले बड़े पशु को लाल रंग का प्रयोग करते हुए पतली रेखाओं के से बनाकर आड़ी-तिरछी रेखओं से अलंकृत किया गया है, इस प्रकार के अलंकरणों से युक्त पशुओं के चित्र मध्यपाषाणकाल में चित्रित किये जाते थे। छायाचित्र के मध्य में ऊपरी भाग पर हल्के लाल रंग से चित्रित पशुओं के पीछे भागते हुए तीसरे शिकारी समूह के चित्र को देखा जा सकता है। इस छायाचित्र में चित्रित चित्रों के रंग संयोजन तथा चित्रण शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये समस्त चित्र मध्यपाषाणकाल में चित्रित किये गये होंगे। इस छायाचित्र के चित्रों के आधार पर यह कहना सरल हो जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में शिकार करने के लिए

मानव समूह बनाकर जाया करते थे। इस प्रकार के शिकारी समूहों के चित्र भारत के लगभग सभी शैलचित्रों से सम्बन्धित पुरास्थलों से प्राप्त हुए हैं इनमें  सागर जिले के आबचन्द पुरास्थल की भी गणना की जा सकती है, यहाँ भी धनुष-बाण युक्त मानवों को समूह बनाकर पशुओं का शिकार करते हुए चित्रें को देखा जा सकता है।[14]

छायाचित्र संख्या दो में चित्रित ताम्रपाषाणकालीन सामाजिक दृश्य

उपर्युक्त छायाचित्र के चित्रों पर पेटिनेशन तथा आक्षेपण का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई दे रहा है जिसके कारण कई चित्रों को पहचान पाना बहुत ही कठिन है। किन्तु छायाचित्र के स्पष्ट दिखने वाले चित्रों में ताम्रपाषाणकालीन समाज को प्रदर्शित करते हुए कई चित्रों को पहचाना जा सकता है। जैसा कि सभी को पता है कि ताम्रपाषाणकालीन में मानव खानाबदोशी जीवन से मुक्ति पाकर स्थाई जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया था। इस काल में स्थाई जीवन जीने के लिए मनुष्यों ने खाद्य सामग्री को संग्रहित करना भी आरम्भ कर दिया था। इस छायाचित्र में तत्कालीन समय के पशु-पक्षियों के साथ मानवों के चित्रों को देखा जा सकता है, किन्तु खाद्‌य संग्रहण को प्रस्तुत करते हुए चित्रों में छायाचित्र के मध्य में निचले भाग पर कत्थई रंगो का प्रयोग करते हुए मोटी रेखाओं से चित्रित हैं। इन चित्रों के अन्तर्गत यष्टि रुप (स्टिक शेप) में चित्रित दो मानव के चित्र प्रमुख हैं जिनमें से एक मानव द्वारा अपने दोनों हाथों में कोई वस्तु पकड़े हुए तथा दूसरे मानव को अपने सर पर कोई वस्तु रखे हुए चित्रित किया गया है। यह चित्र तत्कालीन समय में किए जाने वाले खाद्‌य संग्रहण की पुष्टि करते हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त दो मनुष्यों द्वारा रस्सी से बाँधे हुए पशुओं के चित्रों को देखा जा सकता है। इन मानवों के एक हाथ में बँधे हुए पशु की रस्सी पकड़े हुए तथा दूसरे हाथ में किसी धारदार औजार को पकड़े हुए चित्रित किया गया है। यह चित्र इस पक्ष को प्रदर्शित करते हैं कि तत्कालीन मानव पशुओं को पालतू बनाकर अपने पास रखते थें किन्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय अपने साथ उन पशुओं को भी ले जाते थें जिन्हें वह पालते थें। सागर जिले के आबचन्द पुरास्थल पर भी इस प्रकार के चित्र प्राप्त हुए हैं जिसमें एक मानव द्वारा भैंस को बाँध कर ले जाते हुए चित्रित किया गया है।[16] उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त इस छायाचित्र

में तत्कालीन सामाज के विभिन्न पक्षों को प्रदर्शित करते हुए विभन्न चित्रों के अतिरिक्त तत्कालीन समय के विभिन्न पशु-पक्षिओं के चित्रों को भी चित्रित किया गया है जो प्राकृतिक जमाव एवं प्राकृतिक क्षरण के कारण धुंधले हो गए हैं।

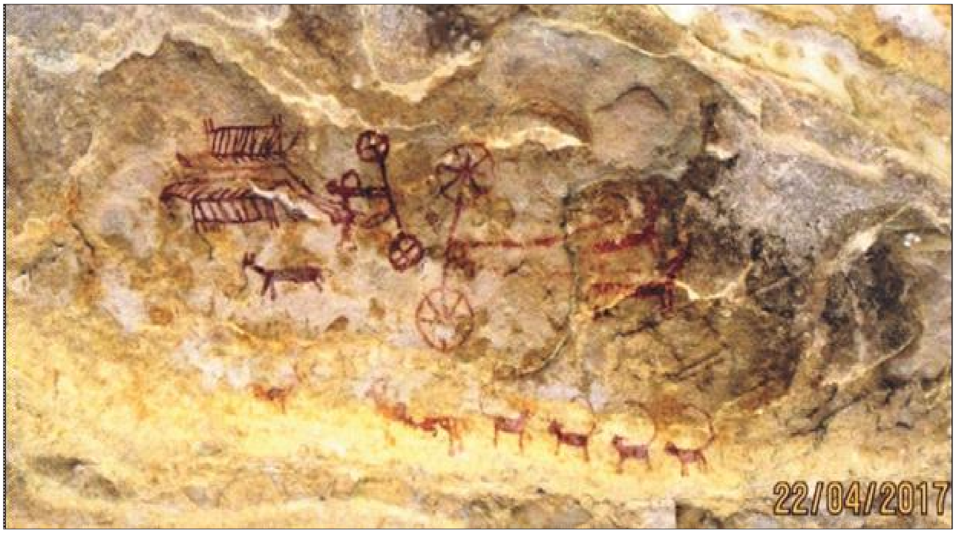


छायाचित्र संख्या तीन में चित्रित ताम्रपाषाकालीन यातायात साधन

छायाचित्र तीन में गहरे लाल रंग का प्रयोग करते हुए मोटी रेखाओं के माध्यम से चित्रित पशुओं से युक्त दो बैलगाड़ियों के चित्र दिखलाई दे रहे हैं, इनमें एक बैलगाड़ी पर दो मानव बैठे हुए चित्रित किये गये हैं तथा दूसरी बैलगाड़ी का चित्रण मानव रहित है। इस चित्र के रंग संयोजन तथा चित्रण शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह चित्र ताम्रपाषाणकाल में चित्रित किए गए होंगे अतः इस छायाचित्र में दिखने वाली बैलगाड़ी का चित्र इस बात की पुष्टि करती है कि ताम्रपाषाणकाल के मानव खाद्य संग्रहण के साथ-साथ यातायात के साधनों का निर्माण एवं उनका प्रयोग करना जानते थे।

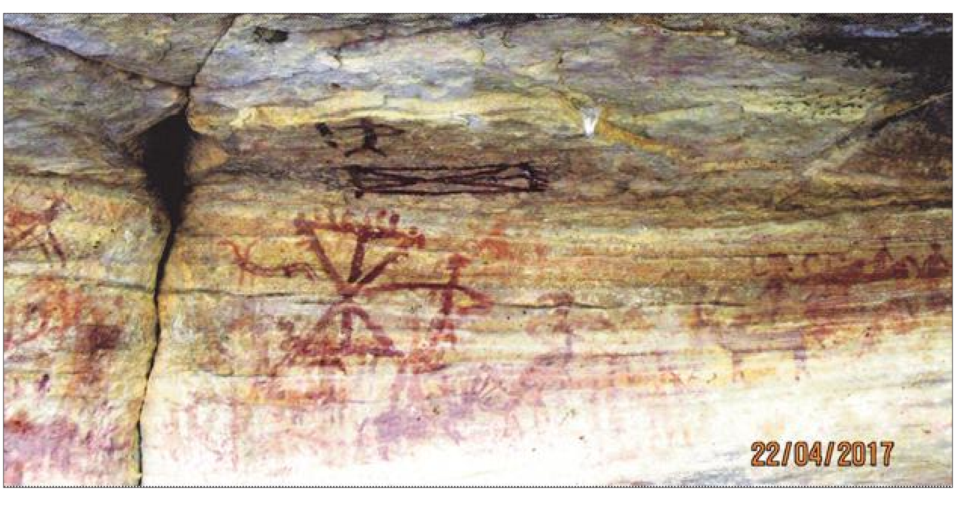


छायाचित्र संख्या चार में ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित शैलचित्र

इस छायाचित्र के चित्रों पर पेटिनेशन तथा आक्षेपण की बहुलता के कारण चित्रों पहचानने में कठिनाई होती है किंतु जो चित्र स्पष्ट दिख रहे हैं उनको देखकर यह कहा जा सकता है कि जिस चित्रण शैली का प्रयोग कर इन शैलचित्रों को चित्रित किया गया है वह ऐतिहासिक काल की चित्रण शैली के समान हैं। इस छायाचित्र के स्पष्ट दिखने वाले चित्रों में छायाचित्र के मध्य भाग में गहरे लाल रंग का प्रयोग करते हुए मोटी रेखाओं के माध्यम से चित्रित मानव का चित्र है जिसे सम्भवतः किसी तांत्रिक क्रिया करते हुए चित्रित किया गया है। इसी छायाचित्र के ऊपरी भाग में शैलाश्रय के छत पर कत्थई रंग के माध्यम से चित्रित अल्पना दिखलाई देती है। इस अल्पना के ऊपर पूरक शैली में किसी वस्तु अथवा उपकरण को लिए हुए मानव का चित्र भी चित्रित है। छायाचित्र के दाएँ ओर ऊपरी भाग पर पूरक शैली में गहरे लाल के माध्यम से चित्रित अश्वारोही मानव समूह के चित्र हैं, जिनको हाथों में कोई हथियार पकड़े हुए चित्रित किया गया है। इस चित्र को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः इन अश्वारोही मानवों को एक-दूसरे से युद्ध करते हुए चित्रित किया गया होगा। इस प्रकार के युद्ध दृश्य सागर जिले के आबचन्द पुरास्थल से भी प्राप्त हुए हैं। अश्वारोही मानव के चित्रों के समीप ही गहरे लाल रंग का प्रयोग करते हुए पूरक शैली में कूबड़ युक्त वृषभ का चित्र भी दिखलाई देता है। छायाचित्र के मध्य भाग पर लाल रंग के माध्यम से पूरक शैली में नृत्यरत मानव का चित्र देखा जा सकता है। इस मानव के चित्र पर पेटिनेशन का अधिक प्रभाव होने के कारण चित्र धुंधला हो गया है। नृत्यरत मानव के चित्र के नीचे दो मयूर तथा कुछ पशुओं के चित्र भी देखे जा सकते हैं इन चित्रों पर आक्षेपण तथा पेटिनेशन के अधिक प्रभाव से यह चित्र धुंधले हो गए हैं, जिस कारण से इन चित्रों को पहचानने में कठिनाई होती है। उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त प्राचीन समय के मानव एवं जीव जगत से सम्बन्धित अन्य कई चित्रों का चित्रण भी इस शैलाश्रय में किया गया जो समय के साथ-साथ पेटिनेशन एवं आक्षेपण के प्रभाव में धुंधले एवं अस्पष्ट हो गये हैं।

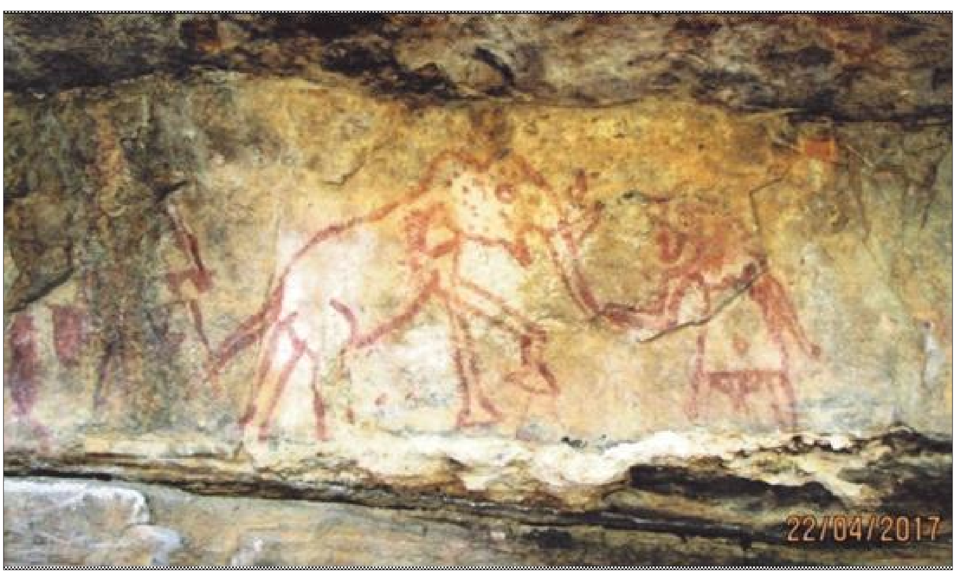


छायाचित्र संख्या पाँच में ऐतिहासिक काल में चित्रित हाथी सहित महावत का चित्र

उपर्युक्त छायाचित्र में लाल रंग का प्रयोग करते हुए मोटी रेखाओं के माध्यम से एक हाथी तथा मुखौटा शैली में चित्रित मानव के चित्र को बड़ी ही सरलता से पहचाना जा सकता है। इस चित्र को देखने के

पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि महावत अपने हाथी को कुछ खिला रहा है। कला की दृष्टि से इस चित्र को ऐतिहासिक काल में चित्रित उत्तम कोटि के शैलचित्रों में रखा जा सकता है। यह गज पालन का उत्तम उदाहरण है।

उपर्युक्त छायाचित्रों का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहना सरल हो जाता है कि 'आमखो' नामक स्थल पर स्थित शैलचित्र 'राची नदी' नामक लघु जलधारा के प्रवाह क्षेत्र के भू-भाग का प्राचीन पर्यावरण एवं प्राचीन संस्कृतियों के क्रमिक विकास को साक्षात प्रदर्शित करने में महत्त्वपूर्ण स्रोत का कार्य करती हैं। छायाचित्र संख्या एक में चित्रित शिकारी समूह के चित्र को देखकर यह कहना आसान हो जाता है कि यह क्षेत्र प्रारम्भिक मानव जाति का निवास स्थल रहा होगा। इस तथ्य की पुष्टि के लिए यहाँ से प्राप्त शैलचित्रों के साथ-साथ पाषाण उपकरण भी प्राप्त हुए हैं जो इस क्षेत्र पर प्रारम्भिक मानव की उपस्थिति को प्रमाणित करते हैं।

इस पुरास्थल पर विकसित प्रागैतिहासिक काल के मानव तथा उनके समाज की बात की जाए तो यह कहना समीचीन होगा कि इस काल के मानव अधिकांश कार्यों को अकेले ही किया करते थे। किन्तु शिकार जैसे कार्यों के लिए मानव समूहों का भी निर्माण किया करते थे तथा यही मानव समूह सफलता पूर्वक शिकार करने के पश्चात् सामूहिक उत्सव भी मनाया करते थे। इन शिकारी समूहों का शैलचित्रों में शिकार करते हुए तथा शिकार के पश्चात् सामूहिक उत्सव मनाते हुए चित्रित होना ही यह पुष्टि करता है कि प्रागैतिहासिक काल मे न चाहते हुए भी सामूहिक संगठन बन जाते होगे जो मानव समाज की रचना करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि इस काल के मानव जाने-अनजाने ही सही मगर एक सामाजिक संगठन में बँधने लगे थे। सम्भवतः यही सामाजिक संगठन कालान्तर समय में संगठित समाज के रुप में बदल गया। छायाचित्र संख्या दो एवं तीन के चित्रों को देख कर यह कहा जा सकता है कि ताम्रपाषाण काल अथवा पूर्व ऐतिहासिक काल में मानव जाति के क्रमिक विकास ने तत्कालीन मानव को खानाबदोशी जीवन से मुक्ति प्रदान कर स्थायी जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। इस क्षेत्र के पूर्व ऐतिहासिक काल के समाज की बात की जाए तो यह कहना समीचीन होगा कि अन्य स्थानों के समान ही इस स्थान पर भी पूर्व ऐतिहासिक काल का मानव सामाजिक संगठन में बँध चुका था। इस तथ्य की पुष्टि यहाँ के शैलाश्रयों में पूर्व ऐतिहासिक चित्रण शैली में चित्रित मानवों के चित्रों द्वारा होती है। यहाँ से प्राप्त शैलचित्रों में एक स्थान पर किसी वस्तु को लिए हुए तथा दूसरे स्थान पर पालतू पशुओं को पकड़े हुए मानव के चित्रों को चित्रित किया गया है।

उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त इस स्थल से ताम्रपाषाण काल अथवा पूर्व ऐतिहासिक चित्रण शैली में दो पशुओं द्वारा चलित दो पहियों युक्त बैलगाड़ी के चित्र का चित्रित होना भी यह जानकारी प्रदान करता है कि तत्कालीन समय के मानव ने स्थायी जीवन जीने के साथ-साथ यातायात सम्बन्धी साधनों को निर्मित करना तथा प्रयोग करना सीख लिया था। यह यातायात सम्बन्धी साधन तत्कालीन समय में इस क्षेत्र विशेष पर खाद्य संग्रहण सम्बन्धी कार्यों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र विशेष का ताम्रपाषाण काल अथवा पूर्व ऐतिहासिक काल का समाज कालान्तर में स्थाई एवं विकसित जीनव जीने वाले मानव समाज का विकसित स्वरुप प्राप्त करने लगा था।

छायाचित्र संख्या चार एवं पाँच चित्रों को देख कर इस क्षेत्र के ऐतिहासिक कालीन समाज के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र प्राचीन समय में राजनीतिक रुप से सक्रिय रहा होगा। इनकी पुष्टि इस स्थल के शैलचित्रों में चित्रित युद्ध दृश्य के चित्रों द्वारा हाती है। इस स्थल के शैलचित्रों में हाथियों के चित्रों का चित्रण होना इस ओर ध्यान आकर्षित करता है कि 'आमखो' वन क्षेत्र आर्थिक रुप से कितना महत्त्वपूर्ण रहा होगा। अतः यह कहना सरल हो जाता है कि 'आमखो' तथा उसके आस-पास का ऐतिहासिक कालीन समाज निरन्तर राजनैतिक हस्तक्षेप में रहा होगा। इस बात की पुष्टि के लिए 'आमखो' के कुछ दूरी पर स्थित चंदेरी नगर को देखा जा सकता है जो प्राचीन समय से ही निरन्तर किसी न किसी राजनैतिक हस्तक्षेप में रहा है। इन चित्रों के

अतिरिक्त छायाचित्र संख्या- चार में पूरक शैली में चित्रित तंत्र-क्रिया में लिप्त मानव के चित्र को देख कर यह कहा जा सकता है कि समाज में तांत्रिक क्रियाओं का प्रचलन प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। यह तांत्रिक क्रियाएँ तत्कालीन समय के धार्मिक स्थिति को प्रकाश में लाने में भी सहायता प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'आमखो' से खोजे गए दस चित्रित शैलाश्रयों में उपस्थित शैलचित्र इस क्षेत्र विशेष पर विचरण करने वाले प्रारंभिक मानव से लेकर ऐतिहासिक कालीन मानवों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक स्थिति के विभिन्न पक्षों को प्रकाश में लाने के लिए महत्त्वपूर्ण स्त्रोत का कार्य करते हैं। 'आमखो' पुरास्थल के भौगोलिक परिदृश्य को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र पर अभी भी शैलचित्रों से सम्बन्धित कई शैलाश्रय विद्यमान हैं जिनकी खोज अभी तक नहीं हो पाई है। यदि इस पुरास्थल पर गहन एवं सुक्ष्म पुरातात्त्विक शोध कार्य किया जाए तो कई चित्रित शैलाश्रयों, पुरास्थलों के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण पुरावशेषों के मिलने की भी प्रबल सम्भावना है, यदि भविष्य में ऐसा हो सका तो 'आमखो' क्षेत्र विशेष के प्राचीन समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति के साथ-साथ धार्मिक स्थिति के अज्ञात पक्षों को भी प्रकाश में लाना सरल हो जायेगा।

*प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,*
*डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003*

**सन्दर्भ -**


1. *पाण्डेय, एस. के., इन्डियन रॉक आर्ट, आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1993, पृ. 8*
2. *वही, पृ. 9*
3. *अग्रवाल, आर.एन., 'शैल चित्र कला - एक अध्ययन', सम्पा. रविन्द्र नाथ अग्रवाल, इण्डियन रॉक आर्ट वाईस-ए-वाईस एथनोग्राफी, गुप्ता पब्लिशर्स, नागपुर, महाराष्ट्र, 2000, पृ. 6*
4. *पाण्डेय, एस. के., इन्डियन रॉक आर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 13*
5. *वही*
6. *वही, पृ. 19*
7. *अग्रवाल, आर. एन., 'शैल चित्र कला - एक अध्ययन', पूर्वोक्त, पृ. 6*
8. *देशपाण्डे, एम. एन., इण्डियन आर्कियोलॉजी, ए रिव्यू 1972-73, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, नाबा मुद्रण प्राईवेट लि., कलकत्ता, 1978, पृ. 19*
9. *थापर, बी. के., इण्डियन आर्कियोलॉजी, ए रिव्यु 1974-75, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, नाबा मुद्रण प्राईवेट लि., कलकत्ता, 1979, पृ. 24*
10. *पाण्डेय, एस. के., इन्डियन रॉक आर्ट, पूर्वोक्त, पृ. 146-148*
11. *अहमद, मशकूर, 'सागर सम्भाग के नये शैलचित्र केन्द्र', सम्पा. आर. एन. मिश्र, जरनल ऑफ द मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, संस्करण 21, भोपाल, मध्यप्रदेश, 2006, पृ. 87*
12. *थापर, बी. के., इण्डियन आर्कियोलॉजी ए : रिव्यु, 1975-76, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, नाबा मुद्रण प्राईवेट लि., कलकत्ता, 1979, पृ. 77*
13. *त्रिवेदी, सी. बी., मोर पेन्टेड रॉक शेल्टर्स फ्रॉम मध्यप्रदेश', सम्पा. जगतपति जोशी, इफेक्ट ऑफ इण्डियन सिविलाईजेशन, भाग-1, आर्यन बुक्स इन्टरनेश्नल, नई दिल्ली, 1997, पृ. 50-51*
14. *दुबे, नागेश, सागर क्षेत्र के शैलाश्रयों में चित्रित मानव जीवन के विविध पक्ष, सम्पा. रविन्द्र नाथ अग्रवाल, इण्डियन रॉक आर्ट वाईस-ए-वाईस एथनोग्राफी, गुप्ता पब्लिशर्स, नागपुर, महाराष्ट्र, 2000, पृ. 79*
15. *वही*
16. *वही, पृ. 80*

# ब्रिटिशकालीन भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली का विकास और राष्ट्रवाद की प्रगति

*ब्रजेन्द्र कुमार*

18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों द्वारा देश में जब अपनी कॉलोनी स्थापित कीं जा रहीं थीं, उन्हीं में से इंलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कंपनी ने भी अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ कर दिया था। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपने साम्राज्य को मजबूत आधार देने के लिए आधुनिक शिक्षा प्रणाली प्रारम्भ की गई। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था को विकसित करने के लिए ऐसे उद्देश्यों को लिया गया जिनसे देश को उपनिवेश में परिवर्तित कर, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ एवं स्थायी रूप दिया जा सके। ब्रिटिश साम्राज्य ने आधुनिक शिक्षा प्रणाली का प्रयोग विकास के एक ऐसे साधन के रूप में किया जिससे भारतीय समाज की स्थिरता को तोड़ा जा सके। औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा के विकास द्वारा भारतीयों की पहचान आधुनिक पश्चिमी विचारों तथा संस्थाओं से हुई। आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने भारतीयों में वैज्ञानिक एवं तार्किक चिंतन का विकास किया, जिसके माध्यम से भारतीय बुद्धिजीवियों ने समाज के ताने-बाने को समझकर उसका अध्ययन शुरु किया। हिन्दुस्तान में उपनिवेशवाद की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसने उन्नीसवीं सदी में साम्राज्यवाद का रूप धारण करके सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक रूपान्तरण से भौतिक तथा मानवीय परिवेश को गहराई तक प्रभावित किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर ब्रिटिश सरकार ने भारत को अपने नये-नये प्रयोगों की जमीन बनाकर भरपूर दोहन किया। इन्हीं प्रयोग में एक अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार था। नई शिक्षा के द्वारा उन्होंने देश में अपने साम्राज्य के शुभचिंतकों एवं संरक्षकों को तैयार कर देश में एक ऐसा परिवेश तैयार किया ताकि लोगों में असमानता की भावना को पैदा किया जा सके। इसके लिए नये तत्वों की पहचान की गई, जिनमें पश्चिमीकरण तथा आधुनिकता को जोड़ा गया। औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विकास से समाज का जो पश्चिमीकरण तथा आधुनिकीकरण हुआ, उससे भारतीयों में राष्ट्रवाद के तत्वों का उदय हुआ। जैसे-जैसे लोग शिक्षित होते गये उनमें राष्ट्रीयता की भावना मजबूत होती गई तथा देश में एक व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा हो गया। इसी आंदोलन के दौरान देश में लोकतंत्र की स्थापना एवं राष्ट्र निर्माण का मार्ग तैयार हुआ।

ब्रिटिशकालीन भारत में आधुनिक शिक्षा की शुरुआत 18वीं सदी में ईसाई मिशनरियों द्वारा वैयक्तिक रूप से अपने स्तर पर की जाती है। इन मिशनरियों का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा के द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार एवं धर्म परिवर्तन था। इनके इसी कार्य से कंपनी के अधिकारी डरे हुए थे, कि उनके इस कार्य से

मध्य भारती-76, जनवरी-जून, 2019, ISSN 0974-0066, *pp. 131-138*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

देश में लोगों के अंदर विरोध की भावना पैदा हो सकती है। इसीलिए निदेशक मंडल उनको अपने राज्य में आने देने के लिए तैयार नहीं था। कंपनी के निदेशक भारतीयों की शिक्षा के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, वहीं दूसरी ओर अधिकारीगण मुख्यतः राजनीतिक आवश्यकता के आधार पर, निदेशकों को उत्तरदायित्व ग्रहण करने के हेतु सहमत करने के लिए आंदोलन कर रहे थे। काफी लम्बे आंदोलनों के बाद कंपनी को 1813 ई. के चार्टर अधिनियम द्वारा कंपनी को भारतीयों की शिक्षा के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और वहीं दूसरी ओर ईसाई मिशनरियों को भारत में प्रवेश की अनुमति मिल गई। इस प्रकार से भारत में सार्वजनिक राजकीय शिक्षा व्यवस्था की दिशा में यह पहला कदम था, इसके पहले कंपनी शासन ने अपने स्तर पर जो प्रयास किए, उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए जे. पी नायक और सैयद नूरुल्ला का मानना है कि ''ईस्ट इंडिया कंपनी राजनीतिक रूप से उन हिंदू और मुसलमान शासकों की उत्तराधिकारिणी थी जिन्होंने 'शास्त्रीय भाषाओं की शिक्षा को दान, अनुदान तथा संस्थाओं की स्थापना करके प्रोत्साहित किया था। अतः कंपनी ने इन परंपराओं को जारी रखने के लिए तथा प्रभावशाली भारतीयों के पुत्रों को सरकार के अधीन उच्च पदों पर कार्य करने हेतु कार्य देकर, उनका विश्वास प्राप्त कर कंपनी का साम्राज्य सुदृढ़ करना चाहती थी।''[1] आधुनिक शिक्षा की शुरुआत कंपनी 1781 ई. में 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना से करती है, ताकि शासक और भद्र उच्च मुस्लिम युवाओं को शिक्षित कर उनका प्रशासन के संचालन में सहयोग लिया जा सके। इसी प्रकार का अन्य प्रयास हिंदू युवाओं की शिक्षा के लिए 1791 ई. में 'बनारस संस्कृत कॉलेज' की स्थापना करके किया गया।

1813 ई. में शिक्षा तथा साहित्य के विकास के लिए जो एक लाख रुपए के व्यय की व्यवस्था की गई थी, उस धनराशि को खर्च करने के लिए 19वीं सदी के तीसरे दशक में बंगाल, मद्रास तथा बंबई में बृहद सर्वेक्षण करवाये गए। इन सर्वेक्षणों के आधार पर विद्वानों के मध्य चले प्राच्य-पाश्चात्य विवाद के बीच जो लम्बी बहस भारत तथा इंगलैण्ड में हुई। जिसके बारे में सुंदरलाल लिखते हैं कि ''भारतवासियों की शिक्षा के प्रति अंगरेज शासकों का विरोध करते हुए 1831 ई. में मेजर जनरल सर लियओनेल स्मिथ ने कहा ''शिक्षा का नतीजा यह होगा कि वे सभी सांप्रदायिक और धार्मिक पक्षपात, जिनके द्वारा हमने अभी तक मुल्क को वश में रखा है और हिंदू-मुसलमानों को एक-दूसरे से लड़ाए रखा है इत्यादि दूर हो जाएंगे, शिक्षा का नतीजा यह होगा कि इन लोगों के दिमाग खुल जाएंगे और उन्हें अपनी विशाल शक्ति का पता लग जाएगा।''[2] इस तरह की चेतावनियों के बावजूद ब्रिटिश शासकों ने देश में शिक्षा के विकास का रास्ता चुना जो आगे चल कर उनके साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण साबित हुआ। इसके बावजूद भी अंग्रेजों ने शिक्षा के विकास का मार्ग चुना। अतः अंग्रेजी राज को शिक्षा की आवश्यकता क्यों पड़ी? इस सवाल का जवाब देते हुए सुंदरलाल लिखते हैं कि ''18वीं शताब्दी के अंत से ही इस मामले में अंगरेजी शासकों के विचारों में अंतर पैदा होना शुरु हो गया। कारण था कि धीरे-धीरे अंगरेजों को दो विशेष कठिनाइयां अनुभव होने लगीं थीं (1) चूँकि शिक्षित भारतीयवासियों की तादाद दिनों-दिन घटती जा रही थी, इसलिए अंगरेजों को अपने सरकारी महकमों और नई अदालतों के लिए योग्य हिंदू और मुसलमान कर्मचारियों की कमी महसूस होने लगी, जिनके बिना उन महकमों और अदालतों का चल सकना असंभव था। (2) उन्हें थोड़े से इस तरह के भारतवासियों की भी आवश्यकता थी, जिनके जरिए भारतीय जनता के हृदय के भावों का उन्हें पता लगता रहे और जिनकी मदद से वे जनता के भावों को अपनी ओर मोड़ सकें।''[3] 1835 ई. में भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव रखी जाती है, जिसका श्रेय लॉर्ड मैकाले को दिया जाता है। इस शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत समाज के उच्च तबके को लाभ पहुंचाने का लक्ष्य

बनाया गया और इस तबके के द्वारा शिक्षा समाज के आम जन तक पहंचाने की व्यवस्था की गई थी। इस पद्धति को 'अधोमुखी निस्यंदन' का नाम दिया गया।

औपनिवेशिक भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास से दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं दिखाई पड़ती हैं - एक सुधारात्मक प्रतिक्रियाएं तथा दूसरी पुनर्स्थापित प्रतिक्रियाएं। सुधारात्मक प्रतिक्रियाओं के रूप में शिक्षा प्रणाली द्वारा समाज में आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों में सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता विकसित की गई। इसी संवेदनशीलता के कारण देश में समाज सुधार की दिशा में कदम बढ़े और समाज सुधार आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। प्रारम्भिक नेता जो आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर सामाजिक सुधार की ओर उन्मुख हुए हैं- बहरामजी मालाबारी (1853-1912), कॉर्नेलिया सोराबजी (1866-1954), गिजूभाई बधेका (1885-1939), गुणाभिराम बरुआ (1824-1894), ईश्वरचंद्र विद्यासागर (1820-1891), कादंबिनी गांगुली (1861-1923), मधुसूदन दास (1848-1934), पंडिता रमाबाई (1858-1922), पंडित बृजमोहन दत्तातार्य 'कैफी' (1866-1955), राजकुमारी अमृत कौर (1889-1964), सर सैयद अहमद खान (1817-1898), सिस्टर निवेदिता (1867-1911), सुब्रमण्यम भारती (1882-1921) आदि। इन सभी ने समाज के अलग-अलग क्षेत्रों में काम करके देश में राष्ट्रीयता का विकास कर, लोगों में बौद्धिक चेतना विकसित की तथा समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए काम किया। 1853 ई. में कंपनी के चार्टर का नवीनीकरण होना था, अतः संपूर्ण शिक्षा क्षेत्र का एक विशद सर्वेक्षण करना अनिवार्य हो गया था। इसके लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर जो चर्चा हुई उस पर सुंदरलाल ने चार्ल्स ट्रेवेलियन द्वारा 1853 ई. में ब्रिटिश पार्लियामेंटरी कमेटी के सामने 'भारत की अलग-अलग शिक्षा प्रणालियों के अलग-अलग राजनैतिक नतीजे' लेख का जिक्र किया है।

इस लेख में ट्रेवेलियन ने भारत की पराधीनता को चिरस्थाई बनाये रखने के बारे कहा कि, ''मैं एक ऐसा रास्ता बता रहा हूँ जो हमारे राज के बने रहने के लिए सबसे अधिक हितकर होगा। अनेक बरसों तक खूब अच्छी तरह सोच-समझ कर मैंने ये विचार कायम किए हैं। मुझे विश्वास है कि मैं इस विषय को पूरी तरह समझता हूँ।.... मैं एक परिचित उदाहरण आपके सामने पेश करता हूं। मैं बारह वर्ष भारत में रहा। उनमें से पहले छह वर्ष मैंन उत्तर भारत में गुजारे। मेरा मुख्य स्थान दिल्ली था। शेष छह वर्ष मैंने कलकत्ता में बिताए। जहां पर मैंने पहले छह वर्ष गुजारे, वहां पुराने शुद्ध देशी विचारों का राज था, वहां लगातार युद्ध और युद्ध कारी अफवाहें सुनने में आतीं थीं। उत्तर भारत में भारतवासियों की देशभक्ति केवल एक ही रूप थी, वे हमारे विरुद्ध साजिसें करते रहते थे, हमारे विरुद्ध विविध शक्तियों को मिटाने की तजवीजें सोचते रहते थे, इत्यादि। उसके बाद मैं कलकत्ता आया। वहां मैंने बिलकुल दूसरी हालत देखी। वहां लोगों का लक्ष्य था- स्वतंत्र अखबार निकालना, म्युनिसिपाल्टियां कायम करना, अंग्रेजी शिक्षा फैलाना, अधिकाधिक हिंदुस्तानियों को सरकारी नौकरियां दिलवाना और इसी तरह की और अनेक बातें।'' ट्रेवेलियन का स्पष्ट विचार था कि भारत में ब्रिटिश शासन को कायम रखने के लिए ''निस्संदेह शिक्षा को बढ़ाने और भारतवासियों को अधिकाधिक नौकरियां देने से, मुझे इस बात में किसी तरह का जरा-सा भी शक नहीं है।''[4] इस आधार पर अब तक भारत में शिक्षा की जो व्यवस्था की गई थी, उसकी समीक्षा करने तथा आगे के विकास की रणनीति तय करने के लिए 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' के अध्यक्ष चार्ल्स वुड का आलेख (Dispatch) लाया गया। इस आलेख की सिफारिशों के आधार पर शिक्षा का पुनर्गठन किया गया। वुड डिसपैच ने देशी प्रारंभिक विद्यालयों के विस्तार की जो सिफारिश की थी, उसके लिए शेखर बंद्योपाध्याय का मत है कि ''जन-शिक्षा की दिशा में आए इस परिवर्तन में भी समाज के

राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रति एक चिंता को देख पाना कठिन नहीं है, जो श्रम विभाजन के विचार पर आधारित था। इस नीति का प्रस्ताव यह था कि जहाँ अत्याधिक शिक्षित भारतवासियों का एक अपेक्षाकृत छोटा समूह प्रशासन के निचले पदों के लिए आवश्यक होगा, वहीं व्यापक जनता को भी ऐसे अच्छे श्रमिक बनने के लिए ''उपयोगी और व्यावहारिक ज्ञान'' मिलेगा जो साम्राज्य के व्यापक संसाधनों का विकास कर सकें और साथ ही बाजार की खोज में लगी ब्रिटिश वस्तुओं की अधिक गुणवत्ता को महत्व देने वाले अच्छे उपभोक्ता भी बनें।''[5] इस प्रकार शिक्षा के विकास के द्वारा देश में ऐसे बाजार के विकास का आधार तैयार किया गया, जहाँ यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति के उत्पादन की खपत की जा सके।

1857 ई. में भारत में एक महाविद्रोह होता है और जिसकी परिणति ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की समाप्ति के रूप में होती है। 1858 ई. में भारत का शासन ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथों में आ जाता है। 1858 ई. के अधिनियम से भारत के प्रति ब्रिटिश शासन की नीतियां बदल जाती हैं। भारतीयों की शिक्षा के लिए भी शासन द्वारा प्रयास तेज कर दिए जाते हैं। अंग्रेजी शिक्षा के विकास से भारत में आधुनिक साहित्य का विकास हुआ और जिसे क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा गया था। इंद्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं कि ''इन सब कारणों ने मिलकर देश में एक नई चेतना उत्पन्न कर दी थी। पढ़े-लिखे भारतवासी राजनीतिक दासता और लज्जा को अनुभव करने लगे थे। उनकी इस असंतोष की भावना को रानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र से उत्तेजना प्राप्त हो गई। घोषणा पत्र में आश्वासन दिया गया कि केवल धर्म, रंग या जाति के कारण किसी भारतवासी को सरकारी ओहदों से वंवित न किया जायेगा। व्यवहार में बिल्कुल इसका उल्टा दिखाई पड़ता है। यह भेदभाव अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों को बहुत अखरने लगी तथा इससे जो क्षोभ उत्पन्न हुआ, वह राजनीतिक आंदोलन का एक बड़ा कारण बना।''[6]

1854 ई. के वुड घोषणा-पत्र के अधीन शिक्षा का प्रबंध कितना कारगर हुआ, इसका मूल्यांकन करने के लिए वॉयसराय लॉर्ड रिपन ने डब्लयू. हंटर की अध्यक्षता में 1882 ई. में एक 'शिक्षा आयोग' का गठन किया। इस आयोग में भारतीयों को भी शामिल किया गया था। आयोग को प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के भविष्य में विस्तार के लिए सुझाव देने का अधिकार प्रदान किया गया था। शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में कहा गया कि ''सरकार को चाहिए कि वह न केवल संस्थाओं का विस्तार, बल्कि उसे चाहिए कि ज्यों ही उपयुक्त अभिकरण, चाहे सार्वजनिक हों या व्यक्तिगत उपगत उपलब्ध हों सरकार इन्हें स्वयं चलाने से हट जाए। यह नीति विशेष कर कॉलेज और हाईस्कूलों पर लागू होनी थी। प्राथमिक शिक्षा के लिए आयोग का मानना था कि इंग्लैंड की तरह भारत में भी प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण जिला तथा नगर बोर्डों को सौंप दिया जाए। प्राथमिक शिक्षा के खर्च के बारे में कहा गया कि स्थानीय संस्थाओं के कर ही इसके प्रधान साधन हों और प्रांतीय सरकारें स्थानीय करों से एकत्र धनराशि का आधा इन्हें दें।''[7] इस आयोग की सिफारिसों के आधार पर सरकार ने प्राथमिक शिक्षा का सारा भार स्थानीय निकायों पर डाल दिया। सरकार के इस कदम से भारतीय जनता में एक आक्रोश की लहर पैदा हुई तथा भारतीय बुद्धिजीवियों को सरकार के खिलाफ संगठित होने का अवसर मिल गया। इसी की परिणति 1885 ई. में काँग्रेस की स्थापना के रूप में प्रकट होती है। काँग्रेस की स्थापना के समय तक, उन उच्च शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियों की संख्या काफी बढ़ जाती है, जिस उच्च शिक्षा की व्यवस्था सरकार ने वुड के घोषणा-पत्र से की थी।

शैक्षिक सुधार की दिशा में कदम बढ़ाते हुए कर्जन ने सितम्बर 1901 ई. में शिमला में एक 'शिक्षा सम्मेलन' का आयोजन किया। इस सम्मेलन में हुई चर्चा के आधार पर 1902 ई. में सर रेले की अध्यक्षता में 'विश्वविद्यालय आयोग' का गठन किया। आयोग को उच्च शिक्षा में अब तक हुई प्रगति का मूल्यांकन करने

तथा भविष्य में उच्च शिक्षा के विकास की रूपरेखा तय करने को कहा गया। आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1904 ई. में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' पास किया गया। इस अधिनियम में सरकार को विश्वविद्यालयों के प्रशासन में अधिकार दिए गए थे। इनमें अधिकांश अध्येताओं को नाम निर्देशित करने का अधिकार, महाविद्यालयों के संबंधन अथवा असंबंधन के लिए अनुमोदन की माँग करने का अधिकार, विनियमों में परिवर्तन करने अथवा विनियम बनाने का अधिकार आदि देना।

भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस अधिनियम की आलोचना ये कहते हुए की, कि अधिनियम के द्वारा विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता खत्म कर उन्हें राज्य का अंग बना दिया गया। कर्जन के उच्च शिक्षा के विकास के प्रयासों को जे. पी. नायक, प्रो. अमरनाथ झा के शब्दों में कहते हैं कि ''अब जब कि अनेक झगड़ों की आग बुझ चुकी है, सभी भारतीय उस महान वायसराय की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति के कृतज्ञ हैं जिसने प्राचीन स्मारकों का परिरक्षण करने और हमारे शैक्षिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए बहुत महान कार्य किया था। इन उपलब्धियों के कारण वह अब भी जीवित हैं और भारतीय लोग कई पीढ़ियों तक उन्हें आशीष देंगे।''[8] अतः कर्जन के शैक्षिक सुधारों ने भारतीय राष्ट्रवाद की गति तेज कर दी थी। इनमें आग में घी का काम 1905 ई. में कर्जन द्वारा बंगाल विभाजन कर किया जाता है। बंगाल विभाजन से भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं में ब्रिटिश राज के प्रति आक्रोश उत्पन्न हो जाता है, जिसकी परिणति स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन के रूप में होती है। स्वदेशी आंदोलन से भारत में 'राष्ट्रीय शिक्षा' प्रणाली का विकास राष्ट्रवादियों द्वारा विद्यमान सरकारी शिक्षा के विरोध स्वरूप किया जाता है। इस समय भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन में एक नये चरण का उदय होता है जिसे 'गरमपंथ' के नाम से जाना जाता है। गरमपंथी नेतृत्व ने प्रतिक्रिया तथा पुनर्स्थापना के मार्ग का अनुसरण करके, भारतीय राष्ट्रवाद में प्रतिरोध की भावना प्रबल कर दी। भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व भी आधुनिक शिक्षा के विकास में अपनी भूमिका निभाने लगे थे। इसका उदाहरण है 1911 ई. में गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा केन्द्रीय विधानसभा में मुफ्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा विधेयक का पेश किया जाना तथा वल्लभ पटेल द्वारा 1916 ई. में गवर्नर जनरल की विधायी परिषद् के पटल पर रखा गया परन्तु, विधेयक को सरकार द्वारा पास न किया गया। इस विधेयक का विरोध महात्मा गांधी और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने भी किया था।[9]

गृह सचिव मांटेग्यू ने 'हाउस ऑफ कामंस' में 20 अगस्त 1917 ई. को घोषणा की कि ''ब्रिटिश शासन की नीति है कि भारत के प्रशासन में भारतीय जनता को भागीदार बनाया जाये और 'स्वशासन' के लिए विभिन्न संस्थानों का क्रमिक विकास किया जाय, जिससे कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके।'' भारतीय राष्ट्रवाद को मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड द्वारा फेंके गए रोटी के इस टुकड़े से ना तो तुष्ट होना था, ना हुआ। अब भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन गांधी युग में प्रवेश करने के लिए तैयार था।[10] 1919 ई. में भारत सरकार अधिनियम के द्वारा शिक्षा विभाग को हस्तांतरित विषय में रख कर भारतीय मंत्रियों के हाथों में सौंप दिया गया। इसी के साथ शिक्षा प्रांतों को हस्तांतरित कर दी गई तथा शिक्षा भारतीयों के नियंत्रण में आ गई।

असहयोग आंदोलन के समय राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का विकास तेजी से होता है, इसका कारण आंदोलन में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा अंग्रेजी शिक्षा का बहिष्कार और रचनात्मक कार्यों का अपनाया जाना था। राष्ट्रीय शिक्षा के विकास के लिए राष्ट्रीय विद्यालयों तथा विद्यापीठों की स्थापना की गई थी। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के विकास ने राष्ट्रीय आंदोलन को मुखर किया था। औपनिवेशिक भारत में उन्नीसवीं सदी का समय सामाजिक सुधारों की दृष्टि से एक प्रगतिशील युग रहा है। पश्चिमी शिक्षा की शुरूआत और तर्क, मानवता

तथा आधुनिक विज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित पाश्चात्य विचारों के प्रचार-प्रसार ने समाज में गहराई तक फैली हुई बुराइयों को भली-भांति जानने- समझने और उन्हें दूर करके समाज में सुधार लाने के लिए शिक्षित भारतीयों को प्रेरित किया। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्टताओं के अनुसार विभिन्न रूपों में धीरे-धीरे संपूर्ण उपमहाद्वीप में फैलता चला गया।[11] असहयोग आंदोलन में रचनात्मक कार्यो को अपना कर राष्ट्रीय आंदोलन में जन-आंदोलन का स्वरूप देकर जनता की लामबंदी की गई।

1937 ई. में वर्धा में एक राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। इस सम्मेलन में 'बुनियादी शिक्षा योजना' का मसविदा तैयार किया जाता है। बुनियादी शिक्षा योजना की अवधि सात वर्ष की रखी गई जिसमें हस्तशिल्प के द्वारा शिक्षा प्रदान करके छात्रों को कुशलता प्रदान की जानी थी। बुनियादी शिक्षा योजना का विकास सरकारी शिक्षा की आलोचना में प्रतिस्थापन के रूप में किया गया था। गाँधीजी ने औपनिवेशिक शिक्षा को एक मानसिक गुलामी के रूप में देखते हुए उसकी आलोचना की। कृष्ण कुमार के शब्दों में "औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने शिक्षित भारतीय का समाजीकरण अब कुछ इस तरह किया कि वह इस निरक्षरता को बाकी जनसमुदाय से कहीं ऊपर बिठा देती थी, शिक्षा पाकर वह स्वयं को औपनिवेशिक राज्य की सत्ता में और इसके साथ जुड़ी सुविधाओं में साझेदार मानने लगता था। शिक्षित भारतीय और औपनिवेशिक राज्य के बीच आई इस एकरूपता ने स्कूली ज्ञान की चहारदीवारी को और भी मजबूत बनाया।[11] इसी चहारदीवारी को तोड़ने के लिए 1937 ई. में जब प्रान्तों में मंत्रिमंडलों का गठन किया गया तो इनमें से अधिकांश में कांग्रेस पार्टी की सरकारें बनीं थीं। कांग्रेस शासित प्रदेशों में बुनियादी शिक्षा के प्रसार को वहां की सरकारों द्वारा प्रोत्साहन दिया गया तथा बुनियादी विद्यालयों की संख्या तेजी से इन प्रान्तों में बढ़ती गई।

देश में राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए ज्वर को कम करने के लिए स्वाधीनता की ओर कदम बढ़ाते हुए सरकार द्वारा शिक्षा के विकास के लिए 1944 ई. में सार्जेन्ट योजना लाई जाती है। इस योजना के द्वारा विद्यालयी शिक्षा का विकास किया जाता है। देश में चले लम्बे स्वतंत्रता आंदोलन के परिणाम स्वरूप 1947 ई. में देश को आजादी प्राप्त होती है। आजादी से देश के शासन की बागडोर भारतीय नागरिकों के हाथों में आ जाती है तथा एक नए राष्ट्र के निर्माण का मार्ग चुना जाता है।

ब्रिटिशकालीन भारत में हुए शैक्षिक विकास ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को तैयार करने में जो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई उसके बारे में ए. आर. देसाई ने ब्रिटिश शासन की शिक्षा संबंधी नीतियों के दोष इस प्रकार बताए हैं कि "ब्रिटिश सरकार ने शिक्षा की किस्म और प्रभावशीलता की रक्षा की ओट में शिक्षा के विस्तार को प्रतिबंधित करना ताकि बड़ी संख्या में राजनीतिक रूप से चेतन शिक्षित मध्यवर्ग का विकास न हो। शिक्षा का जीवन के यथार्थ से संबंध विच्छेद, इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन को गौरवान्वित करने के लिए और राष्ट्रीय गर्व और आत्मसम्मान को कमजोर करने के लिए इसका विकृत किया जाना। ब्रिटिश शासकों की आर्थिक, प्रशासनिक और अन्य जरूरतों के मुताबिक शिक्षा का माध्यम अंगरेजी, एक विदेशी भाषा का होना, इस प्रकार भारतीयों द्वारा आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान का आत्मसातीकरण में बाधा डालना, और भारतीय तथा आम जनता के बीच गहरी खाई पैदा करना तथा एक राष्ट्रीय भाषा का विकास न किया जाना। अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में प्रकाशित गंभीर, आधुनिक, जनतांत्रिक, बुद्धिवादी और राष्ट्रीय तथा समाजवादी साहित्य के हिंदी तथा भारत की अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद को जानबूझकर हतोत्साहित किया जाना।"[12] अंग्रेजी शिक्षा के विकास से भारतीयों में सामान्य रूप से यूरोप के और विशेषतः इंग्लैण्ड के उन

उदार और स्वाधीन विचारकों के उपकार को स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिनके लेखों और भाषणों ने भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के ह्रदयों में स्वाधीनता और उदारता का वलवला उत्पन्न करने में सहयोग दिया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में जो राजनीतिक जागरण हुआ, उसको अन्य अनेक मौलिक कारणों को यूरोप की तत्कालीन उदार विचारधारा से भी पर्याप्त पुष्टि मिली। इस बात को स्वीकारते हुए ए.आर. देसाई का मानना है कि ''अनेक बुराइयों के बावजूद भारत में आधुनिक शिक्षा की शुरूआत ब्रिटिश शासन का प्रगतिशील कार्य था। यह धर्मनिरपेक्ष, उदारवादी और प्राक्-ब्रिटिश दिनों की शिक्षा पद्धति के विपरीत, जाति और धर्म का ख्याल किए बिना सर्वसुलभ थी। सर्वोपरि, इनमें भारतीयों के लिए आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के बुद्धिवादी और प्रजातांत्रिक विचारों के विशाल भंडार का द्वार खोल दिया। यह मात्र संयोग नहीं कि भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक और परवर्ती नेता सभी शिक्षित वर्गों से आए।''[13] आधुनिक शिक्षा के विकास से भारतीय लोगों में विश्व संस्कृति के संपर्क में आने से उनका ज्ञानवर्धन तो हुआ ही उन्हें एक वैश्विक दृष्टिकोण भी मिला।

आधुनिक भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार और भारतवासियों का उसकी ओर आकर्षण के बारे में शेखर बंद्योपाध्याय लिखते हैं कि ''जो भारतवासी अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित हुए वे मुख्यतः मध्य और निम्न आय-वर्गों के हिंदू सवर्ण पुरुष थे, जो उस काल के परिवर्तनों के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत तंगहाल थे। इनमें से अधिकांश के लिए शिक्षा की एक कार्यकारी उपयोगिता थी। यह कठिन समय में जीवन-रक्षा का साधन, आर्थिक समृद्धि और शक्ति पाने का साधन थी और केवल बौद्धिक ज्ञान का मार्ग भर नहीं थी। लेकिन जब वह भौतिक आशा पूरी ना हुई तो इन्हीं लोगों का ज्ञान एक कठोर उपनिवेशी राजसत्ता का सामना करने का सबसे अच्छा शस्त्र बन गया।''[14] आधुनिक शिक्षा के विकास ने देश में जो एक बौद्धिक वातावरण का सृजन किया, उससे लोगों में समानता, प्राकृतिक न्याय, प्रजातंत्र और स्वतंत्रता जैसे मूल्यों को विकसित कर उन्हें अपनी तथा समाज की स्थिति को समझकर, उसमें विद्यमान समस्याओं के समाधान के अपने स्तर पर भी प्रयास किए तथा सरकार से सहयोग की अपेक्षा की। जब यह अपेक्षायें पूरी होतीं नहीं दिखीं तब उन्होंने खुद सरकार में भागीदारी प्राप्त करने के लिए, देश में राजनैतिक संस्थाओं को स्थापित कर लागों को लामबंद किया। सुमित सरकार का मानना है कि ''अंग्रेजी शिक्षा छोटे किंतु बढ़ते हुए समुदायों के लिए सामाजिक प्रोन्नति का नया सोपान सिद्ध हुई और जैसाकि हम देख चुके हैं, उपनिवेशवाद ने विभेदीकरण की प्रक्रिया आरंभ की थी जिसमें कुछ समूहों को अन्य समूहों की कीमत पर लाभ मिले।.... इस नई परिस्थिति ने कम से कम दो प्रकार से जातिगत एकजुटता को प्रोत्साहित किया। इनकी अभिव्यक्ति जातिगत एकता की झूठी चेतना, जातिगत प्रतिस्पर्धा और संस्कृतिकरण के आंदोलन के माध्यम से हुई।''[15] भारत में अंग्रेजी शिक्षा के विकास ने जो राष्ट्रीय चेतना पैदा की उसके बारे में अपर्णा बसु का मानना है कि ''पश्चिमी शिक्षा प्राप्त अभिजात क्षेत्र में केवल एक नहीं था। यह एक पारंपरिक सामाजिक अभिजात वर्ग था, जिसने इसे आच्छादित किया हुआ था, क्योंकि ये वर्ग सबसे पहले यह देखता था कि नई शिक्षा उन्हें अपने पूर्व सम्मान को बनाए रखने में मदद कर सकती है। एक पारंपरिक राजनीतिक अभिजात वर्ग भी था जैसे कि जमींदार और तालुकदार। इन स्तरों के नीचे अमीर और मध्यम किसानों का अपना राजनैतिक महत्व था। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के अभिजात और उप-कुलीन थे, जिन्होंने आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर राजनीतिक लामबंदी की और राष्ट्रीय आंदोलन को संगठित किया।''[16] इस प्रकार से आधुनिक शिक्षा के विकास ने भारतीय राष्ट्रवादियों में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ प्रतिरोध को पैदा करने में अहम भूमिका निभाई।

ब्रिटिशकालीन भारत में हमें दो प्रकार का प्रशासन दिखाई पड़ता है- जिसमें पहला है ब्रिटिश सरकार प्रशासित क्षेत्र तथा दूसरा है देशी रियासतें, जो देशी राजाओं द्वारा शासित है। ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रशासित क्षेत्रों में आधुनिक शिक्षा का विकास तेजी से होता है, वहीं देशी रियासतों में आधुनिक शिक्षा की उपेक्षा दिखती है। इसका असर राष्ट्रीय आंदोलन पर दिखाई पड़ता है, ब्रिटिश सरकार शासित क्षेत्रों में स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ता है। देशी रियासतों में इस दौर में प्रजामंडल आंदोलन संगठित होता है, जो दिखाता है कि जनता अब अपने ही देश के राजाओं को हटा कर उनकी जगह आधुनिक किस्म की लोकतांत्रिक संस्थाओं को स्थापित करना चाहते हैं। इस तरह की एक बदली हुई परिस्थिति प्रकट करती है कि भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास ने लोगों में समानता, स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक मूल्यों, न्याय तथा विवेकशीलता को विकसित कर, उन्हें अपनी स्थिति को बदलने का अवसर प्रदान किया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के विकास ने समाज के निचले स्तर पर विद्यमान लोगों के लिए शिक्षा के द्वार खोले। इसके आलावा महिला शिक्षा की व्यवस्था कर समाज से जड़ता खत्म करने में मदद दी।

*इतिहास विभाग*
*डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003*

**सन्दर्भ -**

1. *नायक, जे.पी. तथा सैयद नुरूल्ला, भारतीय शिक्षा का इतिहास, दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लि., नई दिल्ली, 1976, पृ. 35*
2. *सुंदरलाल, भारत में अंगरेज़ी राज भाग 2, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रलय भारत सरकार, नई दिल्ली, 2016, पृ. 177*
3. *वही, पृ. 177*
4. *वही, पृ.187-88*
5. *बंद्योपाध्याय शेखर, पलासी से विभाजन तक, ऑरियन्ट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2014, पृ. 143*
6. *ताराचन्द, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग 2, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 2007, पृ. 415*
7. *नायक, 1976, पूर्वोक्त, पृ. 137*
8. *वही, पृ. 237*
9. *थरूर, अन्धकार कालः भारत में ब्रिटिश साम्राज्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 294*
10. *सिंह, ओंकार प्रसाद, स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, दिल्ली प्रशासन, दिल्ली,1987, पृ. 67*
11. *कुमार, कृष्ण, गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृ. 14*
12. *देसाई, ए. आर., भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1978, पृ. 115*
13. *देसाई, ए. आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन पब्लिशर्स इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 2012, पृ. 126*
14. *बंधोपाध्याय, 2014, पूर्वोक्त, पृ. 144-45*
15. *सरकार, सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि, नई दिल्ली, 2004, पृ. 73*
16. *बसु, अपर्णा, द ग्रोथ ऑफ एजुकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1974, पृ. 5*